पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रंथमाला १६३

बृहत्कल्पसूत्रभाष्य : एक सांस्कृतिक अध्ययन

डॉ० महेन्द्र प्रताप सिंह

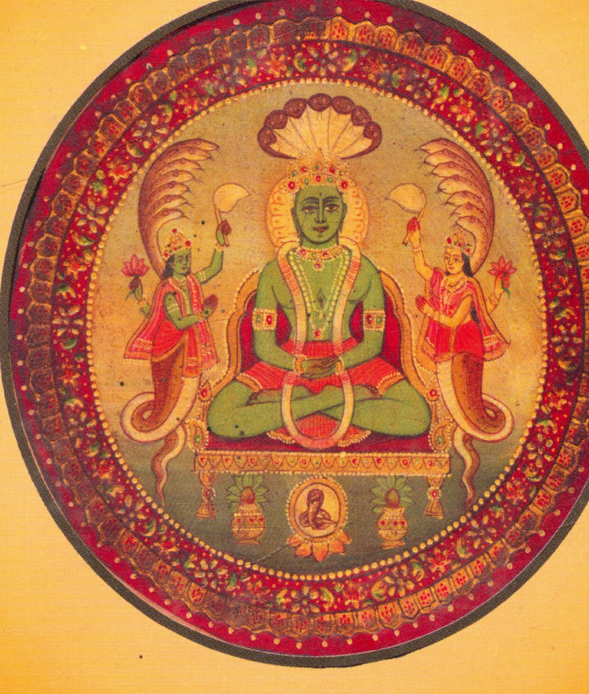

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला सं. 163

बृहत्कल्पसूत्रभाष्य : एक सांस्कृतिक अध्ययन

डॉ. महेन्द्र प्रताप सिंह

एम.ए., पी-एच.डी.

प्राध्यापक, आर. के. एस. पी.जी. कालेज,

कलवारी, मड़िहान, मिर्जापुर

प्रकाशक

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला सं. 163

पुस्तक : बृहत्कल्पसूत्रभाष्य : एक सांस्कृतिक अध्ययन

लेखक : डॉ. महेन्द्र प्रताप सिंह

प्रकाशक :
पार्श्वनाथ विद्यापीठ,
आई.टी.आई. रोड, करौंदी,
वाराणसी-221005
फोन : 0542-2575521, 2575890
Emails : pvri@sify.com
parshwanathvidyapeeth@rediffmail.com

संस्करण : प्रथम ई. सन् 2009

© पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

ISBN : 81-86715-96-8

मूल्य : रु. 250/-

अक्षर-सज्जा
विमल चन्द्र मिश्र, डी. 53/97,
ए-8, पार्वतीपुरी कालोनी, गुरुबाग, कमच्छा, वाराणसी

मुद्रक
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी-221010

समर्पण

हमारे अग्रज एवं मार्गदर्शक

श्री विजय सिंह

रीडर, दृश्यकला संकाय, (व्यावहारिक कला)

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के श्री चरणों में सादर समर्पित।

–महेन्द्र प्रताप सिंह

प्रकाशकीय

जिनशासन की चिरजीवता का मौलिक आधार है- आगम। जैन आगम ग्रन्थों में छेदसूत्रों का अप्रतिम महत्त्व है। इन ग्रन्थों में साधु जीवन में करणीय कार्यों की विधि और अकरणीय कार्यों के लिए निषेध का प्रावधान है। प्रमाद के लिए प्रायश्चित्त का भी विधान है। इन्हीं करणीय और अकरणीय कार्यों की सविस्तार विवेचना करनेवाला ग्रन्थ है- बृहत्कल्पसूत्र। बृहत्कल्पसूत्र चार छेद सूत्रों में अपना विशेष स्थान रखता है। कल्पसूत्र पर दो भाष्य लिखे गये हैं- बृहत् और लघु। उत्तरकाल में 'बृहत्' शब्द कल्प का विशेषण बन गया और इस आधार पर सूत्र का नाम बृहत्कल्पसूत्र हो गया। प्रस्तुत ग्रन्थ 'बृहत्कल्पभाष्य' बृहत्कल्प पर संघदासगणि द्वारा रचित बृहत्काय भाष्य है जिसमें २५० सूत्रों पर कुल ६४९० गाथाएँ हैं। इस विशालकाय ग्रन्थ का सांस्कृतिक अध्ययन करना निश्चय ही एक श्रमसाध्य कार्य है जिसे डॉ. महेन्द्र प्रताप सिंह ने पूर्ण किया है। इस ग्रन्थ पर अभी तक कोई भी स्वतन्त्र कार्य नहीं हुआ है। इस ग्रन्थ को आधार बनाकर जहाँ डॉ. मोतीचन्द्र ने 'सार्थवाह' नामक अपनी पुस्तक का 'जैन साहित्य में यात्री और सार्थवाह' नामक अध्ययन पूरा किया वही डॉ. मधु सेन ने अपनी कृति 'ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ निशीथचूर्णि' में भी इस ग्रन्थ का भरपूर प्रयोग किया है जो पार्श्वनाथ विद्यापीठ से ही प्रकाशित है।

प्रस्तुत कृति डॉ. महेन्द्र प्रताप सिंह के पी-एच.डी. शोध-प्रबन्ध का प्रकाशित संस्करण है। उन्होंने यह ग्रंथ पार्श्वनाथ विद्यापीठ को प्रकाशन हेतु दिया एतदर्थ हम उनके आभारी हैं। इस ग्रंथ के प्रूफ संशोधन का कार्य डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय, सहनिदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने किया है, हम उनके प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं। ग्रंथ की प्रकाशन सम्बन्धी व्यवस्था संस्थान के प्रकाशन अधिकारी डॉ. विजय कुमार ने किया है, एतदर्थ हम उन्हें साभार धन्यवाद देते हैं।

ग्रन्थ का सुंदर टंकण एवं मुद्रण क्रमशः श्री विमल चन्द्र मिश्र एवं महावीर प्रेस ने किया है, इसके लिए वे निश्चय ही बधाई के पात्र हैं। आशा है यह पुस्तक शोधार्थियों एवं श्रमणाचार में रुचि रखने वाले सुधी पाठकों के लिए उपादेय सिद्ध होगी।

भवदीय

इन्द्रभूति बरड़

मंत्री

आभारोक्ति

प्रस्तुत पुस्तक को पूर्णता प्रदान करने हेतु मैं अपने परम आदरणीय गुरुवर स्व. प्रो. लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी, पूर्व रेक्टर, का.हि.वि.वि., वाराणसी तथा शोध निर्देशक प्रो. हरिहर सिंह एवं प्रो. पारसनाथ सिंह, विभागाध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, का.हि.वि.वि., डॉ. अतुल त्रिपाठी, रीडर, कला इतिहास विभाग, का.हि.वि.वि. एवं श्री श्यामबाबू पटेल, डिप्टी रजिस्ट्रार, का.हि.वि.वि., वाराणसी का विशेष ऋणी एवं आभारी हूँ।

स्व. पूज्य माताजी, स्व. पिताजी और बड़े भाई श्री सीताराम सिंह, श्री जय सिंह, स्व. राम सिंह, बड़ी भाभी श्रीमती सुदामा देवी, श्रीमती मिन्टो सिंह, श्रीमती सरोज सिंह, बहन श्रीमती सुशीला देवी, मित्र डॉ. हेमन्त कुमार सिंह, प्रवक्ता, काशी विद्यापीठ (दक्षिण परिसर) के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ, जिनका इस कृति की पूर्णता में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हमें सहयोग मिलता रहा है।

मैं अपनी पत्नी श्रीमती साधना रानी, स. अ., कन्या पूर्व मा. वि. इमिलिया, राजगढ़, मिर्जापुर जिनके सहयोग एवं प्रेरणा के बिना यह कार्य कथमपि सम्भव नहीं था, के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। उनके बड़े भाई श्री प्रमोद कुमार सिंह और मेरी सालियां श्रीमती सुधा रानी, श्रीमती संध्या सिंह, श्रीमती श्वेता सिंह, श्रीमती सुन्दरी देवी, और उनके पति क्रमशः श्री संतोष कुमार सिंह, श्री अश्विनी कुमार सिंह, श्री विमल कुमार सिंह, श्री रामवृक्ष सिंह, श्री दिलीप कुमार सिंह, मामा श्री कृपाशंकर सिंह, श्री मायाशंकर सिंह, स्व. रामधनी सिंह साथ ही साथ समस्त निकट संबंधियों एवं सहयोगियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के सहनिदेशक डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय जी का विशेष आभारी हूँ जिन्होंने अपनी सम्पादन क्षमता एवं मार्ग निर्देशन से प्रस्तुत कृति को पूर्णता प्रदान की।

वर्तमान ग्रंथ की पूर्णता में अनेक विद्वानों की कृतियों का मैंने सदुपयोग किया है, मैं सबके प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। मैंने इस ग्रंथ को अपनी क्षमता से तैयार किया है, इसमें किसी प्रकार की त्रुटियाँ रह गयी हों तो सुधी विद्वानों से क्षमा प्रार्थी हूँ। पाठकों से सादर सुझाव आमंत्रित है ताकि अगले संस्करण में मैं उनका परिमार्जन कर सकूं।

भवदीय

डॉ. महेन्द्र प्रताप सिंह

विषय-सूची

१. प्रस्तावना — १-९

बृहत्कल्पसूत्र और जैन आगम, छेदसूत्रों में बृहत्कल्पसूत्र का स्थान, बृहत्कल्पसूत्रभाष्य और भाष्यकार संघदासगणि, बृहत्कल्प-बृहद्भाष्य, बृहत्कल्पसूत्रभाष्य की संस्कृत-वृत्ति, बृहत्कल्पसूत्रभाष्य की विषयवस्तु।

२. भौगोलिक सामग्री — १०-१९

जनपद- सुराष्ट्र, अवंति, कुणाल, सिन्धु-सौवीर, शूरसेन, कोशल, अंध, नेमाल (नेपाल), नगर- मथुरा, उज्जयिनी, आनन्दपुर, भृगुकच्छ, शूर्पारक, ताम्रलिप्ति, पुरिसपुर, तोसलि, ग्राम, पर्वत- उज्जयन्त, इन्द्रपद, अब्बुय (अर्बुद् -आबू), नदी- गंगा, इरावइ, गोयावरी।

३. सामाजिक जीवन — २०-५१

वर्ण एवं जाति- ब्राह्मण, (क्षत्रिय) खत्तिय, वैश्य, शूद्र, अस्पृश्य, विवाह, विवाह के प्रकार, स्वयंवर विवाह, गान्धर्व विवाह, सामाजिक संस्थाएँ, परिवार, स्त्रियों की स्थिति, दास-प्रथा, अन्न-पान, मदिरापान, मांस भक्षण, रीति-रिवाज, वस्त्र एवं अलंकार, वेश-भूषा, चादरें, जैन साध्वियों की वेश-भूषा, औजार एवं उपकरण, अलंकार, क्रीड़ा-विनोद, औषधि एवं चिकित्सा।

४. आर्थिक जीवन — ५२-७९

कृषि, कृषि उपकरण, सिंचाई, कृषि उत्पादन, चावल, गन्ना, कपास, विविध मसाले, पशुपालन, वाणिज्य और व्यापार, सार्थवाह, व्यापारिक मार्ग, स्थल मार्ग, जलमार्ग, नदी और समुद्र के व्यापारी, यान-वाहन, अन्तर्देशीय व्यापार, श्रेणियाँ, आयात-निर्यात, मूल्य निर्धारण, उद्योग-धन्धे, कताई और बुनाई, वस्त्र निर्माण के केन्द्र, सूती वस्त्र, काष्ठ उद्योग, चित्र उद्योग, चर्म

उद्योग, प्रसाधन उद्योग, तेल उद्योग, धातु उद्योग, लौह उद्योग, दन्तकर्म, स्वर्ण उद्योग, लवण उद्योग, भाण्ड उद्योग, वास्तु, मद्य उद्योग, कुटीर उद्योग, रंग-उद्योग, औद्योगिक श्रम, मुद्राएँ, केवडिक प्रकार का सिक्का, रूवग प्रकार का रजत सिक्का, रूवग की प्रामाणिकता, रजत निर्मित द्रम्म, ताम्र सिक्के, अन्य सिक्के।

५. राजनैतिक जीवन ८०-९५

राजनैतिक जीवन, राज्य के प्रकार, राजा, उत्तराधिकार, राजभवन, शासन-व्यवस्था, केन्द्रीय शासन, स्थानीय शासन, न्याय व्यवस्था, सेना, रथसेना, गजसेना, अश्वसेना, पदाति सेना, राजस्व व्यवस्था, कर-व्यवस्था, राज्य कर की उगाही, व्यापार कर।

६. धार्मिक जीवन ९६-११८

जैनसंघ की स्थिति, प्रव्रज्या, आहार, वस्त्र, उपाश्रय, दिनचर्या, विहार-यात्रा, शील, मृतक-संस्कार, देवी-देवता, इन्द्रमह, यक्षमह, व्यंतरमह, भूतमह, स्कंदमह, शिवमह, वन-देवता, कुल-देवता, यज्ञ, पर्व एवं उत्सव।

७. कला एवं स्थापत्य ११९-१२६

चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्यकला, रक्षा प्राचीर, प्रासाद निर्माण, धार्मिक स्थापत्यकला, चैत्य-स्तूप, संगीत।

८. उपसंहार १२७

सहायक ग्रंथ-सूची १३२

अध्याय-१

प्रस्तावना

'बृहत्कल्पसूत्र' जैनाचार विषयक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी रचना भद्रबाहु प्रथम ने की है। यह दो सौ पचास प्राकृत सूत्रों में निबद्ध है। इस पर संघदासगणि ने ६४९० श्लोक-प्रमाण प्राकृत भाष्य लिखा है। लघुभाष्य अभिहित इस भाष्य पर अज्ञानतामा एक महाभाष्य भी लिखा गया है जो सम्प्रति अप्रकाशित है। बाद में मलयगिरि ने इस पर एक अपूर्ण संस्कृत वृत्ति लिखी। अपूर्ण संस्कृत वृत्ति को तपागच्छ के आचार्य क्षेमकीर्ति ने विक्रम संवत् १३३२ (१२७५ ई.) में पूरा किया। सम्पूर्ण ग्रन्थ छः भागों में मुनि श्री चतुरविजय एवं मुनि श्री पुण्यविजय द्वारा सम्पादित और श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, द्वारा १९३३ से १९४४ ई. प्रकाशित है।

बृहत्कल्पसूत्र और जैन आगम

अंग साहित्य का जैन धर्म में वही स्थान है जो बौद्ध धर्म में त्रिपिटक साहित्य का और हिन्दू धर्म में वैदिक साहित्य का है। इसके अन्तर्गत निम्न ४५ ग्रन्थ शामिल किये जाते हैं- आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृत्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकश्रुत एवं दृष्टिवाद नामक बारह अंग; औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, निरयावलिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका और वृष्णिदशा नामक बारह उपांग; उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक और पिण्डनिर्युक्ति नामक चार मूलसूत्र; दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ, महानिशीथ और जीतकल्प नामक छः छेदसूत्र; नन्दी और अनुयोगद्वार नामक दो चूलिकासूत्र; और चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, तन्दुलवैचारिक, संस्तारक, गच्छाचार, गणिविद्या, देवेन्द्रस्तव और मरणसमाधि नामक दस प्रकीर्णक। दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग को छोड़ आज ये सभी ग्रन्थ उपलब्ध हैं और अर्धमागधी प्राकृत में रचित हैं।

आगम ग्रन्थों की प्रस्तुत सूची केवल श्वेताम्बर (मूर्तिपूजक) धर्मावलम्बियों को मान्य है। स्थानकवासी केवल ३२ आगमों को मानते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय की

मान्यता है कि वीर निर्वाण के बाद श्रुत का क्रमशः ह्रास होते होते ६८३ वर्ष के बाद कोई अंगधर या पूर्वधर आचार्य रहा ही नहीं। अतः वे अंग और पूर्व के अंशधर आचार्यों की परम्परा में होने वाले पुष्पदन्त और भूतबलिकृत षट्खण्डागम तथा आचार्य गुणधर प्रणीत कषायपाहुड (कषायप्राभृत) को ही आगम मानते हैं क्योंकि उनके मतानुसार मूल आगम ग्रन्थ क्रमशः विलुप्त हो गये हैं।

आगमों में चौबीसवें जैन तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के उपदेशों को संकलित कर शब्दबद्ध किया गया है। आगम ग्रन्थों की रचना दो प्रकार के लोगों ने की है– गणधर और स्थविर प्रथम वर्ग में आचारांग आदि बारह अंग शामिल किये जाते हैं जिनकी रचना गणधरों यानि महावीर के प्रधान शिष्यों ने की है। द्वितीय वर्ग में शेष सभी आगम आते हैं और उनकी रचना स्थविरों यानि अन्य वरिष्ठ आचार्यों ने की है। गणधरों द्वारा रचित ग्रन्थ अंगप्रविष्ट और स्थविरों द्वारा रचित ग्रन्थ अंगबाह्य आगम कहलाते हैं। अतः आचारांग आदि बारह अंगों को अंगप्रविष्ट और शेष सभी ग्रन्थों को अंगबाह्य आगम कहा जाता है।[१]

एक बार उत्तर भारत में एक लम्बा दुष्काल पड़ा था जो तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के एक सौ साठ वर्ष पश्चात् (३६० ईसा पूर्व) समाप्त हुआ। दिगम्बर सम्प्रदाय के लोगों का मानना है कि इस दुर्भिक्ष काल में जैन संघ चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु प्रथम तत्कालीन मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त (३२१ से २९८ ईसा पूर्व) के साथ दक्षिण की ओर प्रस्थान कर गये।[२] इसके विपरीत श्वेताम्बर धर्मावलम्बियों का मत है कि भद्रबाहु दुर्भिक्ष काल में नेपाल चले गये।[३] इसी दुर्भिक्ष के बाद आगम ग्रन्थों को संकलित करने का प्रयास किया गया क्योंकि कालक्रम से स्मृति का ह्रास होने से आगम विलुप्त हो रहे थे। इसीलिए दुर्भिक्ष के तुरन्त बाद जैनश्रमण संघ पाटलिपुत्र में एकत्र हुआ और दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग को छोड़ शेष ग्यारह अंगों को संग्रहीत कर लिया गया। उस समय दृष्टिवाद का ज्ञान केवल भद्रबाहु को था जो नेपाल में तपस्या में लीन होने से श्रमणसंघ के सम्मेलन में उपस्थित न हो सके थे। अतः श्रमणसंघ ने स्थूलभद्र और अन्य श्रमणों को दृष्टिवाद की वाचना ग्रहण करने के लिए भद्रबाहु के पास नेपाल भेजा। उनमें केवल स्थूलभद्र ही दृष्टिवाद ग्रहण करने में समर्थ हुए और वह उन्हीं तक सुरक्षित भी रहा। भद्रबाहु ने स्थूलभद्र को केवल दस पूर्व ही अर्थसहित पढ़ाये, शेष चार बिना अर्थ के ही बताये। उपर्युक्त संगोष्ठी के बावजूद आगम साहित्य का ह्रास क्रमशः होता ही गया। अतएव वीरनिर्वाण के लगभग ८४० वर्ष बाद (४७३ ई.) आचार्य स्कन्दिल ने मथुरा में और लगभग इसी समय नागार्जुन ने वलभी में आगमों के उद्धार का एक

बार पुनः प्रयास किया। इन वाचनाओं से आगम ग्रन्थों में कुछ पाठान्तर आ गये जिसके कारण वीरनिर्वाण संवत् ९८० या ९९३ (५१२ या ५२५ ई.) में देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण ने वलभी में श्रमणसंघ को एकत्र कर उपलब्ध समस्त श्रुत को ग्रन्थबद्ध किया।[४] आज जो ४५ श्वेताम्बर जैन आगम उपलब्ध हैं वे इसी वाचना की देन हैं। इस प्रकार बृहत्कल्पसूत्र जिस पर संघदासगणि ने भाष्य लिखा है और इस पुस्तक का आधारग्रंथ है, अंगप्रविष्ट के अन्तर्गत एक छेदसूत्र है और इसके रचयिता आर्य भद्रबाहु एक चतुर्दशपूर्वधर आचार्य थे।

छेदसूत्रों में बृहत्कल्पसूत्र का स्थान

जैन आगमों की जो सूची ऊपर दी गयी है उनमें बृहत्कल्प, छेदसूत्रों के वरिष्ठता क्रम में दूसरे स्थान पर है। छेद का अर्थ कमी या दोष होता है और जब किसी साधु के आचार्य में कोई दोष लगता है तब उसके साधुजीवन में कुछ कमी हो जाती है और उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता है। चूँकि छेदसूत्रों में इन्हीं प्रायश्चित्तों का विधान है अतः वे छेदसूत्र कहलाते हैं। छेदसूत्रों में जैन साधुओं के आचार का सूक्ष्म विवेचन है। इस विवेचन को निम्न चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है- उत्सर्ग (सामान्य विधान), अपवाद (परिस्थितिजन्य छूट), दोष (उत्सर्ग अथवा अपवाद का भंग) और प्रायश्चित्त (व्रतभंग के लिए समुचित दण्ड)।

जैन संस्कृति का मूल आधार श्रमण धर्म है। श्रमण धर्म की सिद्धि के लिए आचार्य धर्म का पालन करना अनिवार्य है और आचार्य धर्म को समझने के लिए छेदसूत्रों का ज्ञान आवश्यक है। दूसरे शब्दों में छेदसूत्रों के ज्ञान के बिना जैन सम्मत आचार धर्म का पालन करना असम्भव है। अन्य छेदसूत्रों की तरह बृहत्कल्पसूत्र में भी जैन साधुओं के आचार सम्बन्धी विधि-निषेध, उत्सर्ग-अपवाद, तप-प्रायश्चित्त आदि का विवेचन है लेकिन बृहत्कल्पसूत्र में साधु-साध्वियों के जीवन एवं व्यवहार से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का सुनिश्चित विधान किया गया है जो इसकी अपनी विशेषता है। इसी विशेषता के कारण इसे कल्पशास्त्र (आचारशास्त्र) कहा जाता है।[५] छेदसूत्रों में महत्त्वपूर्ण माने जाने के कारण ही जैन ग्रन्थकारों ने बृहत्कल्प पर कई भाष्य और वृत्तियाँ लिखीं जिनमें संघदासगणि का भाष्य सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण है।

बृहत्कल्पसूत्रभाष्य और भाष्यकार संघदासगणि

आगम ग्रन्थों के गूढ़ अर्थ को प्रतिपादित करने के लिए वलभी वाचना के बाद उन पर विशद व्याख्या-साहित्य की रचना की गयी जिन्हें हम निम्न पाँच

वर्गों में विभाजित कर सकते हैं– निर्युक्तियाँ, भाष्य, चूर्णियां, संस्कृत वृत्तियां और लोकभाषा में रचित व्याख्यायें। निर्युक्तियाँ और भाष्य जैनागमों की पद्यबद्ध प्राकृत टीकाएँ हैं जबकि चूर्णियां प्राकृत-संस्कृत मिश्रित गद्य शैली में लिखी गयी हैं। निर्युक्तियाँ आचार्य भद्रबाहु द्वितीय की रचनाएँ हैं जो कि प्रसिद्ध ज्योर्तिविद् वराहमिहिर के सहोदर भाई थे।[६] चूर्णियां और संस्कृत आदि वृत्तियां भाष्य के बाद की रचनाएँ हैं और इनकी रचना कई आचार्यों ने अलग-अलग समय में की है। चूर्णिकारों में जिनदासगणि महत्तर (सातवीं सदी ई. का उत्तरार्ध) और संस्कृत टीकाकारों में हरिभद्र (आठवीं सदी ई. का पूर्वार्द्ध) विशेष महत्त्व के हैं।

निर्युक्तियों का मुख्य प्रयोजन आगमों के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना है जबकि भाष्यों का प्रतिपाद्य विषय उन शब्दों में छिपे हुए गूढ़ अर्थ को अभिव्यक्त करना है। अब तक केवल दो ही भाष्यकारों के नाम ज्ञात हुए हैं– जिनभद्रगणि और संघदासगणि। विशेषावश्यकभाष्य और जीतकल्पभाष्य जिनभद्रगणि की रचनाएँ हैं जबकि बृहत्कल्पभाष्य एवं पंचकल्पभाष्य संघदासगणि की कृतियाँ हैं। संघदासगणिकृत दो भाष्यों में केवल बृहत्कल्पभाष्य ही प्रकाशित है।

संघदासगणि के माता-पिता, जन्म-स्थान, शिक्षा-दीक्षा, समय आदि के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं मिलती है लेकिन भौगोलिक साक्ष्य से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तुत भाष्य पश्चिम भारत में लिखा गया और भाष्यकार संघदासगणि इसी क्षेत्र के रहने वाले थे क्योंकि इस भाष्य में इस क्षेत्र के बहुत से देशों एवं नगरों यथा आनन्दपुर, उज्जैनी, द्वारिका, प्रभास, भृगुकच्छ, लाट, सुराष्ट्र, भिल्लमाल, मरु, प्रतिष्ठान आदि का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त मेरू, अष्टापद, हिमवन्त, सम्मेत आदि महत्त्वपूर्ण पर्वतों को छोड़ जिन अन्य पर्वतों का उल्लेख हुआ है उनमें जाने-पहचाने नाम केवल अर्बुद, आबू और उर्ज्जयन्त (गिरनार, जूनागढ़) के हैं जो इसी क्षेत्र में स्थित हैं। परिस्थितिजन्य साक्ष्य से भी इसी बात का समर्थन होता है। क्योंकि बृहत्कल्पभाष्य में भृगुकच्छ (भड़ौच) के बौद्ध श्रावकों द्वारा जैन साध्वियों के अपहरण का उल्लेख है।[७]

संघदासगणि नाम के दो आचार्य हुए हैं। एक ने बृहत्कल्पभाष्य और दूसरे ने वसुदेवहिण्डी प्रथम खण्ड की रचना की है। भाष्यकार संघदासगणि का विशेषण क्षमाश्रमण है जबकि वहुदेवहिण्डी के रचयिता 'वाचक' शब्द से विभूषित हैं।[८] लेकिन उनके काल के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। जहाँ तक भाष्यकार

जिनभद्रगणि का प्रश्न है वे विक्रम संवत् ६५० (५९३ ई.) के आस-पास मौजूद थे।[९] चूँकि जिनभद्रगणि ने अपने ग्रन्थ 'विशेषणवती' में वसुदेवहिण्डी-प्रथम खण्ड में ऋषभदेवचरित की संग्रहणी गाथाएँ बनाकर उनका अपने ग्रन्थ में समावेश किया है अत: वे वसुदेवहिण्डी- प्रथम खण्ड के प्रणेता वाचक संघदासगणि से पूर्ववर्ती हैं।[१०] भाष्यकार संघदासगणि भाष्यकार जिनभद्रगणि के पहले हुए या बाद में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता परन्तु इतना निश्चित है कि वे जैन आगमों के मर्मज्ञ विद्वान थे और छेदसूत्रों पर उनका विशेष अधिकार था।[११] सम्भवत: संघदासगणि ६०० ई. के आस-पास हुए थे।

बृहत्कल्प-बृहद्भाष्य

बृहत्कल्पसूत्र पर प्राकृत गाथाओं में एक और भाष्य लिखा गया जिसके लेखक का नाम अज्ञात है। संघदासगणि के भाष्य से अलग पहचान के लिए ही इसे महाभाष्य और संघदासगणि के भाष्य को लघुभाष्य कहा जाता है। आकार में बड़ा होने के कारण ही इसे महाभाष्य कहा गया है। दुर्भाग्य से यह अपूर्ण ही उपलब्ध है और अभी तक अप्रकाशित है। इसमें लघुभाष्य की कुछ गाथाओं को ज्यों का त्यों और कुछ में हेर-फेर कर आगे पीछे रखा गया है। इस समय इसमें लगभग सात हजार गाथाएँ हैं और जब यह ग्रन्थ पूर्ण रहा होगा तब उसमें लगभग १५ हजार गाथाएँ रही होंगी जो कि लघुभाष्य की लगभग दोगुनी हैं।[१२] चूँकि संस्कृत टीकाकार क्षेमकीर्ति ने बृहद्भाष्य का उल्लेख किया है और उसमें लघुभाष्य समाहित है अत: इसकी रचना क्षेमकीर्ति से पूर्व और संघदासगणि से बाद में हुई प्रतीत होती है।

बृहत्कल्पसूत्रभाष्य की संस्कृत-वृत्ति

निर्युक्तियों, भाष्यों और चूर्णियों के बाद जैनाचार्यों ने जैन आगमों पर संस्कृत टीकाएँ भी लिखीं। इनकी रचना से जैन साहित्य का काफी विस्तार हुआ। संस्कृत टीकाकारों ने जैन आगमों पर लिखे भाष्य आदि के विषयों का विस्तृत विवेचन किया और नये-नये हेतुओं द्वारा उन्हें पुष्ट भी किया। इनकी रचना से जैन आगमों को समझने में काफी मदद मिली। इन संस्कृत टीकाकारों में एक महत्त्वपूर्ण नाम मलयगिरि का है जो प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे।[१३] मलयगिरि ने संघदासगणिकृत 'बृहत्कल्पसूत्रभाष्य' की पीठिका की भाष्य गाथा ६०६ पर्यन्त ही अपनी बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति लिख सके। शेष पीठिका तथा आगे के मूल उद्देशों

के भाष्य की वृत्ति आचार्य क्षेमकीर्ति ने १२७५ ई. में पूरा किया जिसका ग्रन्थमान ४२६०० श्लोक प्रमाण है।

बृहत्कल्पसूत्रभाष्य की विषयवस्तु[१४]

यह भाष्य बृहत्कल्पसूत्र की तरह ही छ: उद्देशों में विभक्त है। इसके अतिरिक्त भाष्यकार संघदासगणि ने ८०५ श्लोक-प्रमाण एक पूर्वपीठिका लिखी है। इसमें बृहत्कल्पसूत्र के प्रथम उद्देश के ५९ सूत्रों पर २४८४, द्वितीय उद्देश के २५ सूत्रों पर ३८९, तृतीय उद्देश के ३१ सूत्रों पर ११९८, चतुर्थ उद्देश के ३७ सूत्रों पर ८०५, पंचम उद्देश के ४२ सूत्रों पर ३७८ और षष्ठ उद्देश के बीस सूत्रों पर ४३१ गाथाएँ लिखी गयी हैं। इस प्रकार पीठिका सहित सम्पूर्ण भाष्य में कुल ६४९० पद्यबद्ध प्राकृत गाथाएँ हैं।

पीठिका में मंगलाचरण के बाद ज्ञानपंचक, अनुयोग और कल्पव्यवहार आदि जैन-धर्म-दर्शन के मौलिक सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है। पीठिका के बाद भाष्यकार ने प्रत्येक मूलसूत्र की व्याख्या करते हुए प्रसंगवश उस काल की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, भौगोलिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों की भी चर्चा की है। ये सभी चर्चाएँ आमतौर पर श्रमण-श्रमणियों के संदर्भ में ही की गयी हैं।

प्रथम उद्देश प्रलम्बसूत्र में श्रमण-श्रमणियों के आहार के सम्बन्ध में ताल, आम्र आदि फलों का, उनके उपाश्रयों के सन्दर्भ में- ग्राम, नगर, खेट, कर्वट, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, सम्बाध, घोष, अंशिका, पुटभेदन, शंकर आदि वस्तियों का, तीर्थंकर के समवसरण के सन्दर्भ में- वैमानिक, ज्योतिष्क, भवनपति, व्यंतर आदि देवों का, समवसरण की रचना के सन्दर्भ में- प्राकार, द्वार, पताका, ध्वज, तोरण, चित्र, चैत्यवृक्ष, आसन, छत्र, चामर आदि का, श्रमण-श्रमणियों के भिक्षा उपकरणों का, रथयात्रा जैसे मेले का, बीमार साधुओं की चिकित्सा के सम्बन्ध में आठ प्रकार के वैद्यों का, नगर, ग्राम आदि दुर्ग के अन्दर और बाहर स्थित वस्तियों का, एक परिक्षेप (चहार-दिवारी) और एक या अनेक द्वार वाले ग्रामों का, अनेक परिक्षेप और अनेक द्वार वाले ग्राम का, उपाश्रय में घटीमात्रक रखने का, उपाश्रय में चार प्रकार के चिलिमिलिका या पर्दा टांगने का, चित्रकर्म युक्त उपाश्रयों का, देव, मनुष्य एवं तिर्यन्च की प्रतिमाओं से युक्त उपाश्रयों का, श्रमण-श्रमणियों के विहार के संदर्भ में वैराज्यों (विरुद्धराज्य) का, देशान्तर, रात्रि या विकाल में गमन के समय श्रमण-

श्रमणियों को चर्म एवं लौह के उपकरणों को रखने का, पन्थ और मार्ग के भेद-प्रभेदों का, पाँच प्रकार के सार्थों का, आठ प्रकार के सार्थवाहों का, आठ प्रकार के सार्थ व्यवस्थापकों का, विहार योग्य क्षेत्रों का, छः आर्य जातियों का, छः आर्यकुलों आदि का उल्लेख हुआ है।

द्वितीय उद्देश की व्याख्या में उपाश्रयप्रकृत, सागारिकपारिहारि प्रकृत, आहृतिकानिहृतिका प्रकृत, अंशिकाप्रकृत, पूज्यभक्तोपकरणप्रकृत, उपधिप्रकृत तथा रजोहरणप्रकृत, इन सात सूत्रों का अधिकार है जिनमें प्रसंगवशात् शालि, ब्रीहि आदि धान्यों का, सुराविकट कुम्भ, सितोदकविकट कुम्भ, ज्योति, दीपक, पिण्ड, दुग्ध, दधि, नवनीत, वंशी, वृक्ष आदि पदार्थों का, जांगिक, भांगिक, सानक, पोतक और तिरीटपट्टक इन पाँच प्रकार के वस्त्रों का, पाँच प्रकार के रजोहरणों आदि का उल्लेख हुआ है।

तृतीय उद्देश उपाश्रयप्रवेशप्रकृतसूत्र में यथाप्रसंग सलोम-चर्म का, कृत्स्न एवं अकृत्स्न वस्त्रों का, संस्तारक, उत्तरपट्ट, रजोहरण (ऊनी एवं सूती), मुखवस्त्रिका, गोच्छक आदि कपड़ों का, तुम्ब, काष्ठ और मृत पात्रों का, निर्ग्रन्थियों के अधोभाग एवं ऊर्ध्वभाग को ढकने वाले वस्त्रों का, सेना के स्वरूप आदि का उल्लेख हुआ है।

चतुर्थ उद्देश में अनुद्घातिक आदि से सम्बन्ध रखने वाले पारांचिक, अनवस्थाप्य, वाचना आदि सोलह प्रकार के सूत्र हैं जिनमें प्रसंगवश गंगा, यमुना आदि महानदियों का, ऐरावती आदि छोटी नदियों का, मृत्यु प्राप्त साधु के शरीर के प्रतिष्ठापना आदि का उल्लेख हुआ है।

पंचम उद्देश में ब्रह्मापाय आदि ग्यारह प्रकार के सूत्र हैं जिसमें प्रसंगवशात्, आलेपन, तेल आदि का उल्लेख हुआ है।

षष्ठ उद्देश में वचन आदि से सम्बन्धित सात प्रकार के सूत्रों का समावेश है जिनमें प्रसंगवशात् अलीक वचन, मृषावाद, अपुरुषवाद, उत्सर्गमार्ग, श्रमण-श्रमणियों हेतु व्यवहित मार्ग, प्रायश्चित्त, भक्तपान, कौकुचिक, मौखरिक, छः प्रकार की कल्प स्थितियों का वर्णन किया गया है।

आचार विषयक सन्दर्भों के स्पष्टीकरण के लिए भाष्यकार ने तरह-तरह के पौराणिक और लोकप्रचलित दृष्टान्त दिये हैं जिनसे सांस्कृतिक सामग्री में और भी वृद्धि हुई है। इतनी विपुल सांस्कृतिक सामग्री का समवेत अध्ययन अभी तक नहीं हुआ है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि इस विशाल ग्रंथ का

कुछ वर्षों पूर्व तक केवल मूल ही प्रकाशित था। लेकिन पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी द्वारा 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास,' भाग-३ (१९८९) एवं जैन विश्वभारती, लाडनू से मुनि दुलहराज द्वारा अनुदित (हिन्दी अनुवाद) एवं सम्पादित संस्करण (२००७)के प्रकाशित हो जाने से ग्रंथ में प्रवेश आसान हो गया है।

प्रस्तुत अध्ययन से पूर्व कुछ विद्वानों ने इस ग्रन्थ का अपने-अपने संदर्भ में उपयोग अवश्य किया है। इनमें सबसे प्रमुख डॉ. मोतीचन्द हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थ 'सार्थवाह' में बृहत्कल्पभाष्य में वर्णित सार्थ एवं सार्थवाह से संबंधित सामग्री का भरपूर उपयोग किया है। तदुपरान्त डॉ. मधुसेन ने अपनी पुस्तक 'ए कल्चरल स्टडी आफ दी निशीथचूर्णि' में प्रसंगवश कुछ संदर्भ प्रस्तुत की हैं। परन्तु दुर्भाग्य से इतने विशाल और बहुविध सामग्री से युक्त इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का संपूर्ण सांस्कृतिक अध्ययन अभी तक नहीं हुआ है। प्रस्तुत अध्ययन में मैंने इस महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थ में निहित संपूर्ण सांस्कृतिक सामग्री को एक जगह एकत्र किया है और उसका समुचित विवेचन कर तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में आकलन करने का प्रयास किया है।

सन्दर्भ

१. मोहनलाल मेहता, जैन धर्म-दर्शन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९७३, पृ. २१।

२. हीलालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, भोपाल, १९७५, पृ. ३५-३६

३. मोहनलाल मेहता, जैन धर्म-दर्शन, पृ.१६

४. ए.एम. घाटगे, द क्लास्किल ऐज, सम्पादक, आर.सी. मजुमदार, बम्बई, १९७०, पृ. ४१५

५. जगदीशचन्द्र जैन व मोहनलाल मेहता, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-२, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान, वाराणसी, १९६६, पृ. २५३

६. मोहनलाल मेहता, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-३, वाराणसी, १९८९, पृ. ६-७

७. बृहत्कल्पसूत्र भाष्य, सम्पादक, आगम मनीषी मुनि दुलहराज, जैन विश्वभारती, लाडनू, २००७, गाथा २०४७-२१०५

८. बृहत्कल्पसूत्र भाष्य, प्रस्तावना, पृ. २०

९. मोहनलाल मेहता, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-३, पृ. ११

१०. वही, पृ. १२३

११. देवेन्द्रमुनि शास्त्री, साहित्य और संस्कृति, वाराणसी, १९७०, पृ. ४८

१२. मोहनलाल मेहता, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-३, पृ. २६३-२६५

१३. वही, पृ. ३८६

१४. वही, पृ. २१४-२५१

*

अध्याय-२

भौगोलिक सामग्री

बृहत्कल्पभाष्य में भूगोल विषयक सामग्री यत्र-तत्र प्रकीर्ण रूप से उपलब्ध होती है जिसमें जनपद, नगर, ग्राम, पर्वत और नदियाँ आदि उल्लिखित हैं। इनके परिशीलन से तत्कालीन भारत की भौगोलिक दशा का आकलन यथार्थरूपेण होता है। इनका विस्तृत विवरण निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है।

जनपद

राजा द्वारा शासित प्रजा को 'जन' कहते थे। प्रजा के निवास क्षेत्र को जनपद कहते थे। प्रस्तुत ग्रन्थ में जिन जनपदों या देशों का उल्लेख है उनमें मुख्य हैं- सुराष्ट्र, अवंति, कुणाल, सिन्धु-सौवीर, शूरसेन, कोशल, आंध्र और नेपाल।

सुराष्ट्र

बृहत्कल्पभाष्य में सुराष्ट्र की गणना महाराष्ट्र, आन्ध्र और कुडुक्क (कुर्ग) जैसे देशों के साथ की गई है। वहाँ के राजा सम्प्रति ने अपने भटों को भेजकर जैन धर्म का प्रचार किया था। उसके समय में यहाँ जैन धर्म का काफी प्रचार-प्रसार हुआ।[१] वर्तमान गुजरात प्रदेश का काठियावाड़ क्षेत्र ही प्राचीन सुराष्ट्र था।[२] कालकाचार्य यहाँ पारसकुल (ईरान) से ९६ शाहों को लेकर आये थे, इसलिए इस देश को ९६ मंडलों में विभक्त किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[३] सुराष्ट्र व्यापार का एक बहुत बड़ा केन्द्र था जहाँ दूर-दूर के व्यापारी माल खरीदने आते थे।[४]

द्वारका (जूनागढ़) सौराष्ट्र की मुख्य नगरी थी। इसका दूसरा नाम कुशस्थली भी था।[५] द्वारका एक अत्यन्त और समृद्ध-नगर था जो चारों ओर से पाषाण के प्राकार से परिवेष्टित था।[६] वसुदेवहिण्डी में उसे अनार्त, कुशार्त और सौराष्ट्र की राजधानी कहा है।[७]

अवन्ति

अवन्ति एक प्राचीन जनपद था[८]। उज्जयिनी इसका महत्त्वपूर्ण नगर था। उसे उत्तर अवन्ति की राजधानी कहा गया है। जीवन्तस्वामी प्रतिमा के दर्शन करने

के लिए यहाँ राजा सम्प्रति और आर्य सुहस्ति पधारे थे।[९] इसके अलावा आचार्य चंडरुद्र[१०] ने यहाँ विहार किया था। जैन साधुओं को यहाँ कठोर नियमों का पालन करना पड़ता था।[११] अवंति जनपद की पहचान वर्तमान में मालवा क्षेत्र (म.प्र.) से की जाती है।[१२]

कुणाल

कुणाल जनपद को ही उत्तर कोशल कहा जाता था। सरयू नदी कोशल जनपद को उत्तर कोशल और दक्षिण कोशल इन दो भागों में विभक्त करती है।[१३] कुणाल देश की राजधानी श्रावस्ती थी, जिसकी तुलना सहेट-महेट (जिला गोंडा, उ.प्र.) से की जाती है। यह नगरी ऐरावती नदी के किनारे बसी थी। जैन सूत्रों में उल्लेख है कि इस नदी में बहुत कम पानी रहता था, इसके अनेक प्रदेश सूखे थे और जैन श्रमण इसे पार करके भिक्षा के लिए जाते थे।[१४] इस नदी में बाढ़ आने से लोगों का बहुत नुकसान हो जाता था।[१५]

जिनप्रभसूरि के अनुसार यहाँ समुद्रवंशीय राजा राज्य करते थे, जो बुद्ध के परम उपासक थे और बुद्ध के सम्मान में वरघोड़ा निकालते थे। यहाँ पर कई किस्म का चावल पैदा होता था।[१६]

'इत्थेव निप्पंज्जंति नाणाविहा साली'

सिन्धु-सौवीर

सिन्धु-सौवीर दोनों एक ही जनपद में सम्मिलित थे। सिन्दु देश में बाढ़ बहुत आया करती थी। यह देश चरिका, परिव्राजिका, कर्पाटिका, तंचनिका (बौद्धभिक्षुणी) और भागवी आदि अनेक पाखण्डी श्रमणियों का स्थान था, अतः जैन साधुओं को इस देश में गमन करने का निषेध था। यदि किसी अपरिहार्य कारणों से उन्हें वहाँ जाना पड़े तो शीघ्र ही लौट आने का विधान था।[१७] भोजन-पान की यहाँ शुद्धता नहीं थी। मांस भक्षण का यहाँ रिवाज था। यहाँ के निवासी मद्यपान करते थे[१८] और मद्यपान के पात्र से ही पानी पी लिया करते थे। भिक्षा प्राप्त करने के लिए यहाँ स्वच्छ वस्त्रों की आवश्यकता होती थी।[१९]

वीतिभयपट्टन सिन्धु-सौवीर की राजधानी थी। इसका दूसरा नाम कुम्भारप्रक्षेप (कुमारपक्खेप) बताया गया है। 'सिणवल्लीए कुंभारपक्खेव नोम पट्टणं'[२०] यह नगर सिणवल्लि में अवस्थित था। सिणवल्लि एक विकट रेगिस्तान था जहाँ व्यापारियों को क्षुधा और तृष्णा से पीड़ित हो अपने जीवन से हाथ धोना

पड़ता था।[२१] सिंधु नदी के आसपास का एक बड़ा भूभाग जिसके अंदर सौवीर तथा सिणवल्लिनामक रेगिस्तान भी शामिल था।[२२]

शूरसेन

शूरसेन एक महत्त्वपूर्ण जनपद था जिसकी राजधानी मथुरा थी। इसके अन्तर्गत ९६ ग्रामों में लोग अपने-अपने घरों और चौराहों पर जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा स्थापित करते थे।[२३] यहाँ सर्वरत्नमय-स्तूप होने का उल्लेख है, जिसे लेकर जैन और बौद्धों में झगड़ा हो गया था। अन्त में इस पर जैनों का अधिकार हो गया।[२४]

कोशल

जैनसूत्रों में कोशल एक प्राचीन जनपद माना गया है। वैशाली में जन्म लेने के कारण महावीर को वैशलिक कहा जाता था। उसी तरह ऋषभनाथ को कौशलिक (कोसलिय) कहा जाता था। यह अचल गणधर का जन्मस्थान था।[२५] कोशल का प्राचीन नाम विनीता भी था इसलिए विनीता को कुशला नाम से भी कहा गया है।[२६] यहाँ के निवासी सोवीर (मदिरा) और चावल के काफी शौकीन थे।

हेट्ठावणि कोसलगा सोवीरगकूरभोइणो मणुया ।[२७]

अयोध्या को कोशल, विनीता, इक्ष्वाकुभूमि, रामपुरी और विशाखा नामों से उल्लिखित किया गया है। जिनप्रभसूरि ने घग्घर (घाघरा) और सरयू के संगम पर स्वर्गद्वार होने का उल्लेख किया है।

जत्थ घग्घर दहो सरऊनईए समं मिलित्ता सग्गदुवारं ।[२८]

अंध

बृहत्कल्पभाष्य में अंध या आन्ध्र का उल्लेख एक जनपद के रूप में हुआ है। यह एक अनार्य देश था लेकिन संप्रति ने इसे सुरट्ठ, द्रविड आदि के साथ जैन श्रमणों का विहार क्षेत्र बनाया।[२९] यह जनपद गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच में स्थित था।[३०]

नेमाल (नेपाल)

नेपाल में ही प्रमुख गणधर भद्रबाहु दुर्भिक्ष के समय में निवास किये थे।[३१] यहाँ पर चोरों का आतंक नहीं था अतः जैन साधुओं के लिये यहाँ कृत्स्नवस्त्र पहनना विहित था।[३२] वहाँ के कम्बल प्रसिद्ध थे।[३३]

नगर

मथुरा

मथुरा शूरसेन की राजधानी थी। मथुरा उत्तरापथ की एक महत्त्वपूर्ण नगरी मानी गयी है। यहाँ सर्वरत्नमय स्तूप का उल्लेख मिलता है।[३४] मथुरा में अंतिम केवली जम्बूस्वामी का निर्वाण हुआ था, इसलिए सिद्ध क्षेत्रों में इसकी गणना की गई है।[३५]

मथुरा को व्यापार का मुख्य केन्द्र बताया गया है, और वस्त्र के लिये यह विशेष रूप से प्रसिद्ध था।[३६] यहाँ के लोगों का मुख्य पेशा व्यापार था, खेतीबारी यहाँ नहीं होती थी।[३७]

उज्जयिनी

उज्जयिनी अवन्ति देश की राजधानी थी। यह नगर व्यापार का बड़ा केन्द्र था। यहाँ के व्यापारी विभिन्न देशों में व्यापार के लिए जाते थे। इसकी पहचान आधुनिक उज्जैन से की जाती है जो शिप्रा नदी के किनारे स्थित है। उज्जयिनी दक्षिणापथ का सबसे महत्त्वपूर्ण नगर था।[३८]

आनन्दपुर

उत्तर गुजरात में आनंदपुर (बड़नगर) भी जैन श्रमणों का केन्द्र था।[३९] आनन्दपुर के निवासी सरस्वती नदी के पूर्वाभिमुख प्रवाह के पास शरद ऋतु में संखडि त्योहार मनाते थे।

> सेलपुरे इसितलागम्मि होति अट्ठाहिया महामहिमा ।
> कोंडलमेंढ पभासे, अब्बुय पादीणवाहम्मि ।।[४०]

भृगुकच्छ

बृहत्कल्पभाष्य में भृगुकच्छ (वर्तमान भड़ौंच, गुजरात) का उल्लेख प्राप्त होता है।[४१] यह एक प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था और सुवर्णभूमि (वर्मा) के साथ इसका व्यापार होता था।[४२] भृगुकच्छ (भड़ौंच) और ताम्रलिप्ति (तामलुक) द्रोणमुख कहे जाते थे जहाँ जल एवं स्थल मार्गों से व्यापार होता था।[४३] आवश्यकचूर्णि से ज्ञात होता है कि भृगुकच्छ और उज्जैन के बीच २५ योजन का अन्तर था।[४४] व्यंतर कुण्डलमेंठ के सम्मान में यहाँ उत्सव मनाया जाता था।[४५]

शूर्पारक

सोप्पारय वर्तमान सोपारा, जिला ठाणा, महाराष्ट्र नगर व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था और यहाँ बहुत से व्यापारी रहते थे।[४६] भृगुकच्छ और सुवर्णभूमि (वर्मा) के साथ इस नगर का व्यापार होता था।[४७]

शूर्पारक नगर का राजा व्यापारियों (नेगम) से कर वसूल करने में जब असमर्थ हो गया तो अपने शुल्कपालों को भेजकर उसने उनके घर जला देने का आदेश दिया।[४८]

ताम्रलिप्ति

ताम्रलिप्ति एक द्रोणमुख था जहाँ जल और थल दोनों रास्तों से व्यापार होता था। यह वंग प्रदेश की राजधानी थी।[४९]

पुरिसपुर

यह गांधार देश का एक नगर था। एक बार पाटलिपुत्र के राजा मुरुण्ड ने यहाँ एक दूत भेजा था।[५०]

तोसलि

तोसलि प्राचीन कलिंग देश का प्रमुख नगर था। यहाँ जैन धर्म का काफी प्रसार हुआ था। जैनधर्म का महान् पोषक सम्राट खारवेल यहीं का शासक था। बृहत्कल्पभाष्य में इसका कई स्थलों पर विभिन्न संदर्भों में उल्लेख हुआ है। यहाँ के निवासी फल-फूल के बहुत शौकीन थे।[५१] यहाँ पर काफी वर्षा होती थी जिससे फसलें कभी-कभी नष्ट हो जाती थीं। ऐसी परिस्थिति में जैन साधुओं के लिए नारियल के फल खाकर जीवित रहने का निर्देश दिया गया है।[५२] यह क्षेत्र तालाबों के लिए भी प्रसिद्ध था।[५३]

उपर्युक्त नगरों के अतिरिक्त निम्न नगरों का केवल उल्लेख मात्र हुआ है- कांची (वर्तमान कांचीपुरम)[५४] कुसुमपुर (प्राचीन पाटलिपुत्र)[५५] तुरुमिणि[५६], पुष्पपुर,[५७] (पेशावर), पोयणपुर[५८], (पोतनपुर) और पइट्ठाण (प्रतिष्ठानपुर)।[५९]

ग्राम

प्राचीन काल से ही भारत के अधिकांश लोग ग्रामों में निवास करते थे और नगरों में निवास करने वाले भी किसी न किसी रूप में ग्रामों से जुड़े रहते

थे। गाँवों में गाय, भैंस, पालने वाले भी बड़ी संख्या में रहते थे। बृहत्कल्पभाष्य में ऐसे गाँवों को 'घोष' कहा गया है।[६०] प्रस्तुत ग्रंथ में सोलह प्रकार की वस्तियों का उल्लेख मिलता है यथा- ग्राम, नगर, खेट, कर्बट, मडम्ब, पत्तन, द्रोणमुख, आश्रम, पुटभेदन, घोष, निगम, राजधानी, निवेश, सम्बाध, अंशिका, आकर।

से गामंसि वा नगरंसि वा खेडंसि वा, कब्बडंसि वा मडंबंसि वा पट्टणंसि वा आगरंसि वा दोणमुहंसि वा निगमंसि वा, रायहाणिंसि वा आसमंसि वा निवेसंसि वा संबाहंसि वा घोसंसि वा अंसियंसि वा, पुडभेयणंसि संकरंसि वा सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथाणं हेमंतगिम्हासु एगं मासं वत्थए।।[६१]

इनका विस्तृत विवरण प्रस्तुत ग्रन्थ के धार्मिक जीवन नामक अध्याय में किया गया है। कुछ गाँव जंगल या पहाड़ी के आस-पास बनाये जाते थे। वहाँ पर कृषक अपना अनाज एकत्र करके रखते थे। ऐसे गाँवों को 'सम्बाध' या 'संवाह' कहा जाता था।[६२] कुछ गाँवों के चारों ओर मिट्टी की प्राचीर बनाई जाती थी। ऐसे गाँवों को (खेट) कहा जाता था। सुरक्षा और सुविधा के लिए कुछ गाँवों को एक केन्द्रीय गाँव बनाया जाता था जो नगर से छोटा और साधारण गाँव से बड़ा होता था और जिसके चारों ओर मिट्टी का परकोटा बना होता था। ऐसे गाँव को 'कर्बट' कहा जाता था।[६३] कौटिल्य ने दो सौ गांवों के बीच एक कर्बट बनाने के लिए कहा है। गांवों में रहने वालों की सुख-सुविधाओं का ध्यान रखा जाता था। गाँव प्रायः आत्मनिर्भर होते थे।[६४] बृहत्कल्पभाष्य में आदर्श गाँव की विशेषता बतायी गयी है- जहाँ पानी के लिए कुआँ हो, खेलने के लिए मैदान हो, पशुओं के लिए चारागाह हो, वन प्रदेश निकट हो, बच्चों के खेलने के लिए मैदान हो और दासियों को घूमने के लिए स्थान हो। प्रत्येक गाँव की अपनी सीमा होती थी।[६५]

विवक्षित नामक ग्राम के पास पूर्व दिशा में मनाये जाने वाले उत्सव को पुरः संखडि और पश्चिम दिशा में मनाये जाने वाले उत्सव को पश्चिम संखडि कहा जाता था।[६६] सम्मेलन अथवा गोष्ठी में अपने सम्बन्धियों एवं मित्रों को भोजन के लिए निमंत्रित किया जाता था। ऐसे समय गाँव के अनेक लोग इकट्ठे होते, तथा भोजन आदि करते थे।[६७]

पर्वत

उज्जयन्त

द्वारका के उत्तर-पूर्व में रैवतक पर्वत था जिसे उर्जयन्त भी कहते थे। रुद्रदामन और स्कन्दगुप्त के गिरिनार शिलालेखों में इसका उल्लेख है। यहाँ एक

नन्दनवन था जिसमें सुरप्रिय नामक यक्ष का एक मंदिर था। रैवतक (उज्जयंत) पर्वत अनेक पक्षी, लताओं आदि से सुशोभित था। यहाँ पानी के झरने थे[६८] और लोग प्रतिवर्ष संखडि मनाने के लिए एकत्रित होते थे। यहाँ भगवान अरिष्टनेमि ने निर्वाण प्राप्त किया था,[६९] इसलिए इसकी गणना सिद्धक्षेत्रों में की जाती है।

इन्द्रपद

इस पर्वत का दूसरा नाम अजाग्रपदगिरि था। यह पर्वत चारों ओर गाँवों से घिरा हुआ था।[७०] आवश्यकचूर्णि में भी इस पर्वत का उल्लेख मिलता है। उसमें कहा गया है कि भगवान महावीर ने यहाँ राजा दशार्णभद्र को दीक्षा दी थी। दशार्णपुर के उत्तरपूर्व में दशार्णकूट नाम का पर्वत था जिसका दूसरा नाम अजाग्रपद गिरि अथवा इन्द्रपद भी था।[७१]

अब्बुय (अर्बुद् -आबू)

यह जैनों का एक महत्त्वपूर्ण प्राचीन तीर्थ स्थल है। यह राजस्थान के सिरोही जिला में स्थित है। प्राचीन काल में यहाँ संखडि का पर्व मनाया जाता था।[७२] यहाँ ऋषभनाथ और नेमिनाथ के विश्वविख्यात मंदिर हैं। इनमें से एक १०३२ ई. में विमलशाह का और दूसरा १२३२ ई. में तेजपाल का बनवाया हुआ है।

नदी

गंगा

भरह क्षेत्र के पाँच प्रमुख नदियों में गंगा भी एक महत्त्वपूर्ण नदी थी। बृहत्कल्पभाष्य में गंगा नदी का एक बड़ी नदी के रूप में उल्लेख मात्र किया गया है। जिन पांच नदियों को बहुजला और महार्णव कहा गया है, वे हैं– गंगा, यमुना, सरयू, कोशिका और मही।[७३]

इरावइ

वर्तमान में इसकी पहचान राप्ती से की जाती है। बृहत्कल्पभाष्य में उल्लेख है कि यह नदी बहुत छिछली थी और इसको आसानी से पार किया जा सकता था। इस नदी के कुछ भाग सूखे भी रहते थे अतः जैन साधु इसे पार कर भिक्षा लेने आया-जाया करते थे।[७४]

गोयावरी

इसकी पहचान वर्तमान गोदावरी नदी से की जाती है।[७५] इसी नदी पर पइट्ठाण स्थित था।[७६]

इस प्रकार यह ग्रन्थ बृहत्कल्पसूत्र कालीन भौगोलिक परिस्थितियों की सम्यकतया विवेचन करता है जिसमें उस समय प्रचलित देशों, ग्रामों, जनपदों, नदियों, पर्वतों, का उपलब्ध तथ्यों के आधार पर वर्णन किया गया है।

संदर्भ

१. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३२८९
२. ऐतिहासिक स्थानावली, विजयेन्द्र कुमार माथुर, राजस्थान हि.ग्र.अ. जयपुर, १९९०, पृ. ९७७
३. जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. ४७२
४. दशवैकालिकचूर्णि, पृ. ४०
५. महाभारत, सभापर्व, १४.५३
६. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ११२३
७. वसुदेवहिण्डी, पृ. ७७
८. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ६१०२
९. वही, गा. ३२७७
१०. वही, गा. ६१०३
११. वही, गा. ५७०६
१२. जगदीशचन्द्र जैन, जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. ४८०
१३. वही, पृ. ४८५
१४. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ५६३९
१५. जै. आ. सा. में भा. स., पृ. ४८५
१६. जिनप्रभसूरि, विविधतीर्थकल्प, पृ. ७०
१७. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ५४४१, ४२
१८. वही, गा. १२३९ (देखें वृत्ति)
१९. निशीथचूर्णि १५.५०९४ की चूर्णि
२०. आवश्यकचूर्णि, श्रीऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेता. संस्था, रतलाम, १९२९, २, पृ. ३७

२१. आवश्यक चूर्णि, पृ. ३४
२२. जगदीशचन्द्र जैन, जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृष्ठ ४८२
२३. बृहत्कल्पभाष्य, गा. १७७६ आदि
२४. सानुवाद व्यवहारभाष्य, २३३१
२५. बृहत्कल्पभाष्य, वृत्ति, संपा. मुनि चतुर विजय एवं मुनि पुण्य विजय, श्री आत्मानन्द जैन, सभा भावनगर, १९३८, गा. ५८२४
२६. आवश्यकटीका (मलयगिरि), पृ. २१४
२७. पिण्डनिर्युक्ति, ६१९
२८. विविधतीर्थकल्प १३, पृ. २४
२९. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३२८९
३०. वही, गा. ६२४७
३१. आ.चू., २, पृ. १८७
३२. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३९१२
३३. वही, गा. ३८२३
३४. सानुवाद व्यवहारभाष्य, संपा. मुनि दुलहराज जैन वि. भा. २००४, २३३१
३५. जगदीशचन्द्र जैन, जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. ४८३
३६. आवश्यक टीका (हरिभद्र), पृ. ३०७
३७. बृहत्कल्पभाष्य, गा. १२३९
३८. वही, गा. ३२७७
३९. नि. चू. ५.२१४०, पृ. ३५७
४०. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३१५०
४१. वही, गा. २०५४
४२. अवदान, २.४७६१३ आदि
४३. बृहत्कल्पभाष्य, वृत्ति १०९०
४४. आव. चू. २, पृ. १६०
४५. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ४२१९
४६. वही, गा. २५०६
४७. अवदान, २.४७६
४८. बृहत्कल्पभाष्य, गा. २५०६
४९. वही, गा. १०९०

५०. बृहत्कल्पभाष्य, गा. २२९१

५१. वही, गा. १२३९

५२. जै.आ.सा. में भा.स., पृ. ४६७

५३. वही, गा. ३४२९

५४. वही, गा. ३८९२

५५. वही, गा. ४१२४

५६. वही, गा. ५२५८

५७. वही, गा. १३४९

५८. वही, गा. ६११८

५९. विविधतीर्थकल्प, २३, पृ. ४७

६०. वही, गा. १०९२

६१. वही, गा. १०८८-१०९३

६२. वही, गा. १०९२

६३. वही, गा. १०८९

६४. कौटिल्य, अर्थशास्त्र; २.१.१९

६५. परसीयं पि वयेति हु, सुद्धतरो भणतिजा ससीमा तु उज्जाण अवत्ता या उक्कीलतां उमुद्धयरो। -बृहत्कल्पभाष्य, गा. १०९८

६६. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३१४३

६७. नि. सू. ११.८० की चूर्णि

६८. बृहत्कल्पभाष्य, गा. २९२२

६९. आ. नि. ३०७, कल्पसूत्र ६.१७४; पृ. १८२ ज्ञाताधर्मकथा ५, पृ. ६८; अन्तकृद्दशा ५, पृ. २८; उत्तराध्ययन टी. २२, पृ. २८०

७०. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ४८४

७१. आ. चू., पृ. ४७६ आ. टी., पृ. ४६८

७२. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३१५०

७३. वही ५६१९

७४. वही, गा. ५६१९

७५. वही, ५६१९

७६. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ६२४४

*

अध्याय-३

सामाजिक जीवन

बृहत्कल्पसूत्रभाष्य से हमें तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था एवं जीवन निर्वाह सें सम्बन्धित प्रमाणों का प्रचुर मात्रा में उल्लेख मिलता है। उस समय के लोगों के वर्ण एवं जाति, रहन-सहन, खान-पान, विवाह, संस्कार, वस्त्र एवं आभूषण, क्रीड़ा-विनोद, औषधि एवं चिकित्सा इत्यादि के विषय में सविस्तार वर्णन मिलता है। जैसा कि हमें विदित है कि सामाजिक व्यवस्था न केवल समाज के सभी पहलुओं को दर्शाती है, बल्कि सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक पक्षों को भी उजागर करती है, बृहत्कल्पसूत्रभाष्य से भी हमें इस तरह के प्रमाण प्राप्त होते हैं।

वर्ण एवं जाति

प्राचीन भारतीय समाज वर्णों एवं जातियों में विभाजित था। समाज का यह विभाजन सामाजिक (वंश परम्परा तथा रीति-रिवाजों के कारण), आर्थिक (आजीविका की दृष्टि से), राजनैतिक, धार्मिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों का परिणाम था। धर्मशास्त्र के आधार पर जाति-व्यवस्था के कुछ विशिष्ट गुण बताये गये हैं और इन्हीं गुणों के कारण एक जाति दूसरी जाति से भिन्न आचरण करती हुई पायी गयी है। वे गुण हैं- वंश परंपरा, जाति के भीतर ही विवाह करना एवं एक ही गोत्र में कुछ विशिष्ट सम्बन्धियों में विवाह न करना, भोजन सम्बन्धी वर्जना, व्यवसाय (आजीविका के आधार पर जाति व्यवस्था), जाति श्रेणियाँ (कुछ उच्चतम एवं कुछ निम्नतम) आदि। पी.वी. काणे ने वर्ण और जाति में अन्तर बताते हुए उल्लेख किया है कि वर्ण की धारणा वंश, संस्कृति, चरित्र (स्वभाव) एवं व्यवसाय पर आधारित है, जब कि जाति-व्यवस्था जन्म एवं अनुवांशिकता पर बल देती है और बिना कर्तव्यों का विश्लेषण किये विशेषाधिकारों पर ही आधारित है।[१] समाज में व्यक्ति का प्रभाव और महत्त्व वर्ण के आधार पर निश्चित होता है। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत कर्म का प्रधान स्थान है तथा प्रत्येक वर्ण का अपना विशिष्ट कर्तव्य होता है।

जैनग्रन्थों में आर्य और अनार्य दो जातियाँ बताई गई हैं। आर्य अथवा इभ्य जातियों में कुल छह जातियों की गणना की गई है- अम्बष्ठ, कलिन्द, वैदेह, विदक, हारित और तन्तुण।[२] छह कुलार्यों का भी उल्लेख है- उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रिय, ज्ञात, कौरव और इक्ष्वाकु।

उग्गा भोगा राइण्ण खत्तिया तह य णात कोरव्वा।
इक्खागा वि य छट्ठा, कुलारिया होंति नायव्वा।।[३]

बौद्ध धर्म की तरह जैन धर्म में भी चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) वाली व्यवस्था को महत्त्वपूर्ण नहीं माना गया। लेकिन इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं निकालना चाहिए कि जैन ग्रन्थकारों को इनकी जानकारी नहीं थी क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ में यत्र-तत्र इनका उल्लेख हुआ है।

ब्राह्मण

वैदिक काल से ही ब्राह्मणों को सभी वर्णों में श्रेष्ठ कहा गया है। वे पठन-पाठन के साथ यज्ञ-हवन आदि उत्तम कार्य में रत रहते थे। राजदरबारों में उन्हें विशिष्ट स्थान प्राप्त था तथा राजा के सचिव आदि श्रेष्ठ पदों को सुशोभित करते थे। अन्त्येष्टि क्रिया के बाद मृतक आत्मा की शांति के लिए ब्राह्मणों को घर बुलाकर भोजन कराया जाता था। विशिष्ट ब्राह्मणों को दान देने की भी प्रथा थी। 'बृहत्कल्पभाष्य' में उनके सम्बन्ध में इतना ही उल्लेख है कि वे षट् अंग (शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष और कल्प), चार वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद) मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र- इन चौदह विद्याओं में कुशल होते थे।[४] एक जगह यह भी उल्लेख है कि ब्राह्मण कभी किसी देवता को प्रसन्न करने के लिये आगन्तुक पुरुष को मार डालते और जहाँ वह मारा जाता उस घर के ऊपर शीलिवृक्ष शाखा का चिह्न बना दिया जाता था।[५]

(क्षत्रिय) खत्तिय

क्षत्रिय समाज का पोषण और रक्षा करता था। समाज के संवर्धन में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान था। राजा के रूप में क्षत्रिय का विशेष कर्तव्य था। शस्त्र धारण करना, देश का निष्पक्ष शासन करना और वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करना।[६]

जैन ग्रंथों में क्षत्रियों का बहुत बखान किया गया है। चौबीसों जैन तीर्थंकर क्षत्रिय कुल में ही उत्पन्न बताये गये हैं। क्षत्रिय ७२ कलाओं का अध्ययन करते और युद्ध-विद्या में कुशलता प्राप्त करते थे। अपने भुजबल द्वारा वे देश पर शासन करने का अधिकार प्राप्त करते थे। ऐसे कितने ही क्षत्रिय राजाओं और राजकुमारों

का उल्लेख मिलता है जिन्होंने संसार त्यागकर सिद्धि प्राप्त की। इनमें उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रिय, ज्ञात और इक्ष्वाकु मुख्य हैं।[७]

वैश्य

जैन धर्म को मानने वाले ज्यादातर लोग व्यापारी थे, जैसा आज भी है, क्योंकि इस धंधे में हिंसा होने की कम गुंजाइश रहती है। 'बृहत्कल्पभाष्य' में वैश्यों का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं है परन्तु उसमें जो संदर्भ वाणिज्य-व्यापार, उद्योग-धंधे, सार्थवाह आदि से संबंधित हैं और जिसकी विशद् चर्चा आर्थिक जीवन वाले अध्याय में की गई है वे सब इसी वर्ग के लोगों से संबंधित हैं। इस धन्धे में लिप्त लोगों को वणिक, श्रेष्ठी और सार्थवाह कहा जाता था। 'बृहत्कल्पभाष्य' में किठि वणिक[८], श्रेष्ठीपुत्र थावच्च[९], श्रेष्ठीपुत्र सालिभद्द[१०] और सार्थवाह[११] का भी उल्लेख हुआ है। 'बृहत्कल्पभाष्य' की वृत्ति में दृढ़मित्र[१२] और धनमित्र[१३] जैसे प्रसिद्ध सार्थवाहों का उल्लेख है। 'बृहत्कल्पभाष्य' में एक ऐसे श्रेष्ठी का भी उल्लेख है जो अट्ठारह कारीगरों से कार्य कराता था।[१४] धन की समुचित व्यवस्था के लिए वणिक अपनी श्रेणियाँ बनाते थे जिससे व्यापार में उन्हें सुविधा होती थी। 'बृहत्कल्पभाष्य' में इसी तरह के एक सारस्वत गाथा का उल्लेख भी मिलता है।[१५]

शूद्र

समाज में शूद्र का स्थान अत्यन्त निम्न था। उसे पतित और हेय समझा जाता था।[१६] लेकिन न तो 'बृहत्कल्पभाष्य' में और न ही अन्य जैनग्रंथों में शूद्र अभिहित किसी वर्ण का उल्लेख है। इसका प्रमुख कारण यह है कि जैन परंपरा में हिन्दू वर्ण व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया गया। जैन परंपरा के अनुसार तो समाज का कोई भी व्यक्ति जैनसंघ का सदस्य हो सकता है। उनके यहां वर्गविभेद जैसी कोई बात ही न थी। फिर भी जिन लोगों को शूद्र के अन्तर्गत रखा गया है उनके कुछ संदर्भ यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

'बृहत्कल्पभाष्य' में चर्मकर्म के बारे में बतलाया गया है कि वस्त्र के अभाव में जैन-साधु चमड़े का उपयोग कर सकता है।

> कोसग नहरक्खट्ठा, हिमा-ऽहि-कंटाइसू उ खपुसादी ।
> कत्ती वि विकरणट्ठा, विवित्त पुढवाइरक्खट्ठा ।।[१७]

इसी प्रकार जैन साध्वियों के सम्बन्ध में उल्लेख है कि आवश्यकता पड़ने पर वे लोमरहित चर्म का उपयोग कर सकती हैं।[१८] इन दो उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि उस समय चर्मकार मौजूद थे जिनकी गणना शूद्रवर्ण के अन्तर्गत

की जाती थी। इसी प्रकार वस्त्रों को रंगने वाले रजक भी मौजूद थे।[१९] 'बृहत्कल्पभाष्य' में कई तरह के लौह उपकरणों का उल्लेख है[२०] जिससे प्रतीत होता है कि उस समय लोहार भी थे। इसी तरह लकड़ी एकत्रित करने वालों को कट्ठहारग, घास काटने वाले को तणहारग और पत्ते इकट्ठे करने वालों को पत्तहारग कहा गया है।[२१]

अस्पृश्य

'बृहत्कल्पसूत्र' में अस्पृश्यों का कोई उल्लेख नहीं है जबकि समसामयिक अन्य जैन ग्रंथों[२२] में इनका उल्लेख हुआ है। 'बृहत्कल्पभाष्य' की वृत्ति में डोम्ब, चण्डालों आदि का उल्लेख है[२३] जो अस्पृश्य माने जाते हैं।

विवाह

प्राचीनकाल से ही विवाह की प्रथा सभी समाजों में विद्यमान पायी जाती है। वंश, कुल और परिवार की निरन्तरता विवाह से बनी रही है तथा जीवन के विविध पक्ष इससे अनुप्राणित होते रहे हैं। इस ग्रन्थ में धार्मिक विश्वास, स्थायित्व और सामाजिकता ये तीनों विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं।

हिन्दू संस्कृति में विवाह का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि वहाँ यह एक धार्मिक संस्कार के रूप में गृहीत है। इसके अन्तर्गत स्त्री-पुरुष का यौन-सम्बन्ध ही नहीं आता बल्कि उसकी धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्रियाएँ भी आती हैं जिनके माध्यम से मानव परिवार और समाज का विकास होता है। वस्तुतः सन्तान की उत्पत्ति, उनकी देख-रेख और लालन-पालन, आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति और सामाजिक उत्तरदायित्व तथा सदाचार का अनुगमन एवं नैतिक मूल्यों की स्थापना विवाह के आधार पर ही होती है।

जैन आगमों में विवाह के सम्बन्ध में निश्चित व्यवस्था की जानकारी नहीं मिलती। हां इतना अवश्य कहा गया है कि वर और वधू को समान आयु का होना चाहिए। प्राचीन भारत में बड़ी अवस्था में विवाह होना हानिप्रद समझा जाता था। एक लोकश्रुति उद्धृत की गयी है कि यदि कन्या रजस्वला हो जाय तो जितने उसके रुधिर के बिन्दु गिरें, उतनी ही बार उसकी माता को नरक का दुःख भोगना पड़ता है।

मां ते फंसेज्ज कुलं आदिज्जमाणा सुया वयं पत्ता।
धम्मो य लोहियस्सा जइ बिंदू तत्तिया नरया।।[२४]

विवाह के प्रकार

जैनसूत्रों में विवाह के तीन प्रकार का उल्लेख मिलता है- वर और कन्या दोनों-पक्षों के माता-पिताओं द्वारा आयोजित विवाह, स्वयंवर विवाह तथा गान्धर्व विवाह।[२५] प्रथम प्रकार के विवाह माता-पिता द्वारा आयोजित किये जाते थे। यही आर्य विवाह प्रचलन में रहा होगा।

स्वयंवर विवाह

इस प्रकार के विवाह में कन्या अपने पसन्द वर का स्वयं चुनाव करती थी। राजे-महाराजे ही अपनी कन्याओं के लिए स्वयंवर रचाते थे। सम्भवतः मध्यम वर्ग के लोगों में स्वयंवर की प्रथा नहीं थी। निम्न वर्ग के लोगों में यह प्रथा अवश्य थी। उदाहरण के लिए, तोसलि देश में एक व्याघरणशाला थी। यह शाला गाँव के बीचोबीच बनी थी। इसके मध्य में एक अग्निकुण्ड स्थापित किया जाता था, जिसमें अग्नि हमेशा जलती रहती थी। इस शाला में एक स्वयंवरा दासचेटी और बहुत से दासचेटक प्रवेश करते थे, और जिस चेटक को कन्या पसन्द कर लेती, उसी के साथ उसका विवाह हो जाता था।[२६]

गान्धर्व विवाह

इस विवाह में वर और कन्या अपने मन पसन्द का चुनाव कर लेते थे और बिना अपने माता-पिता की अनुमति के एवं बिना ही किसी धार्मिक विधि-विधान के शादी कर लेते थे। 'बृहत्कल्पभाष्य' में एक ऐसे ही शादी का उल्लेख है जिसमें बलदेव निसढ के पुत्र सागरचंद्र और राजकुमारी कमलामेला में नारद जी ने एक-दूसरे के प्रति आकर्षण उत्पन्न कर दिया। कमलामेला नागसेन को दी जा चुकी थी, लेकिन वह सागरचंद से प्रेम करने लगी। सागरचंद ने शंब से किसी तरह उसे प्राप्त करने का अनुरोध किया। उसने प्रद्युम्न से प्रज्ञप्तिविद्या ग्रहण की और उसके विवाह के दिन उसका हरण कर लाया।[२७]

'बृहत्कल्पभाष्य' में भाई-बहन की शादी के भी उल्लेख मिलते हैं। उज्जैनी का गर्दभ नाम का युवराज अपनी बहन अडोलिया पर आसक्त हो गया और अपने अमात्य दीर्घपृष्ठ के सुझाव पर, भूमिगृह में उसके साथ रहने लगा। गोल्ल देश में इस प्रकार के विवाह का प्रचलन था।[२८] जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के समय विवाह की यह प्रथा प्रचलित बतायी गयी है। स्वयं ऋषभदेव ने अपनी बहन सुमंगला के साथ विवाह किया था। इसी प्रकार उनके पुत्र भरत और बाहुबलि का विवाह ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की उनकी बहनों के साथ हुआ था।[२९]

कन्या के माता-पिता अपने जमाई को अपने घर रख लेना पसन्द करते थे। पारस देश में भी इस प्रथा का चलन था। अश्वों के किसी मालिक ने किसी दरिद्र आदमी को अपने घोड़ों की देखभाल के लिए नौकर रख लिया था। उसके यहाँ प्रति वर्ष प्रसव करने वाली घोड़ियाँ थीं, नौकर को उसकी मजदूरी के बदले दो घोड़े देने का वादा किया गया। धीरे-धीरे उस नौकर का अश्वस्वामी की कन्या से परिचय हो गया। इस बीच में जब उसके वेतन का समय आया तब उसने अश्वस्वामी की कन्या से पूछकर सर्वोत्तम लक्षणयुक्त दो घोड़े छाँट लिये। यह देखकर अश्वस्वामी सोच-विचार में पड़ गया। आखिर उसने नौकर के साथ अपनी कन्या का विवाह कर उसे घरजमाई बना लिया।[३०]

'बृहत्कल्पभाष्य' में बहु-पत्नी रखने की प्रथा का उल्लेख मिलता है। किसी गृहस्थ ने अपनी चारों स्त्रियों को मारकर घर से निकाल दिया। उसकी पहली पत्नी घर से निकलकर दूसरे के घर चली गयी, दूसरी अपनी कुलगृह में जाकर रहने लगी, तीसरी अपने पति के किसी मित्र के घर पहुँच गयी, लेकिन चौथी पिटी जाने पर भी वहीं रही। पति अपने चौथी पत्नी से बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उसे गृहस्वामिनी बना दिया।[३१]

सामाजिक संस्थाएँ

परिवार

परिवार अथवा कुटुम्ब सामाजिक जीवन की इकाई ही नहीं बल्कि आधार-शिला है। जन्म से लेकर मृत्यु तक की सारी व्यवस्था पारिवारिक संगठन के अन्तर्गत ही संचालित होती है। माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन और पुत्र-पुत्री के संयोग से परिवार का निर्माण होता है। अतः परिवार संस्था का उद्भव और विकास इसी आधार पर हुआ है। परिवार के सब लोग एक ही स्थान पर रहते, एक ही जगह पकाया हुआ भोजन करते तथा सर्वमान्य जमीन जायदाद का उपभोग करते। स्त्रियाँ छाड़ने-पिछाड़ने, पीसने-कूटने, रसोई बनाने, भोजन परोसने, पानी भरने और बर्तन मांजने आदि का काम करतीं।[३२]

'बृहत्कल्पभाष्य' में संस्कारों का उल्लेख आता है। जिस दिन मनुष्य संसार त्याग करता था उस दिन उसका निष्क्रमण-संस्कार होता था। यह किसी शुभ दिवस पर ही होता था। प्रायः चतुर्थी अथवा अष्टमी के दिन इसके लिए अशुभ समझे जाते थे।[३३]

स्त्रियों की स्थिति

प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियोंका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। उन्हें विवाह, शिक्षा सम्पत्ति आदि में अधिकार प्राप्त थे। कन्या के रूप में, पत्नी के रूप में तथा माँ के रूप में वे हिन्दू परिवार और समाज में आदृत थीं। परिवार और समुदाय में उनके द्वारा कन्या, पत्नी, वधू और माँ के रूप में किये जाने वाले योगदान का सर्वदा महत्त्व और गौरव रहा है। भारतीय धर्मशास्त्र में नारी सर्व-शक्ति-सम्पन्न मानी गई तथा विद्या, शील, ममता, यश और सम्पत्ति की प्रतीक समझी गई।[३४]

'जैनसूत्रों' में भी कहा गया है कि जब कन्या पैदा होती है तो पिता के अधीन रहती है, जब उसका विवाह हो जाता है तो पति के अधीन हो जाती है, और जब विधवा होती है तो पुत्र के अधीन हो जाती है- तात्पर्य यह कि नारी स्वतंत्र नहीं रह सकती थी।[३५] 'बृहत्कल्पभाष्य' से भी नारी के बारे में महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। कोई वधू अपने घर की खिड़की में बैठी-बैठी नगर की सुन्दर वस्तुएँ देखा करती थी। कभी वह कोई जुलूस देखती, तो कभी इधर-उधर भागते हुए घोड़े या रथ से होनेवाली हलचल देखती। धीरे-धीरे पर-पुरुषों में उसकी रुचि होने लगी। यह देखकर उसके श्वसुर ने उसे रोका, पर वह नहीं मानी। उसकी निन्दा की, फिर भी कोई असर न हुआ। तत्पश्चात् कोड़े से पीटी गयी, फिर भी न मानी। यह देखकर अन्त में घर से निकाल दिया गया।[३६] प्रस्तुत ग्रन्थ में उस समय श्रमणों की अपेक्षा श्रमणियों पर ज्यादा अंकुश था क्योंकि 'बृहत्कल्पभाष्य' में स्त्रियों को दृष्टिवाद सूत्र पढ़ने का निषेध किया गया है। इसका कारण यह है कि स्त्री स्वभाव से दुर्बल, अहंकार बहुल, चंचल-इन्द्रिय और मानस से दुर्बल होती है, अतएव महापरिज्ञा, अरुणोपपात आदि और दृष्टिवाद पठन करने का उसे निषेध है।[३७] 'जैनसूत्रों' में उल्लेख है कि तीन वर्ष की पर्यायवाला निर्ग्रन्थ तीस वर्ष की पर्यायवाली श्रमणी का उपाध्याय तथा पाँच वर्ष की पर्यायवाला निर्ग्रन्थ साठ वर्ष की पर्यायवाली श्रमणी का आचार्य हो सकता है। उस समय स्त्रियों की समाज में सम्मानजनक स्थिति थी। स्त्रियों को चौदह रत्नों में गिना गया है।[३८] मल्लिकुमारी ने स्त्री होकर भी तीर्थंकर की पदवी प्राप्त की।[३९] बृहत्कल्पभाष्य में भी कहा गया है कि जल, अग्नि, चोर अथवा दुष्काल का संकट उपस्थित होने पर सर्वप्रथम स्त्री की रक्षा करनी चाहिए।[४०] इसी प्रकार डूबते समय भिक्षु-भिक्षुणी में से पहले भिक्षुणी को और क्षुल्लक-क्षुल्लिका में से पहले क्षुल्लिका को बचाना चाहिए।[४१]

पुरुष के अपनी स्त्रियों के सतीत्व के विषय में शंकास्पद होने का उल्लेख भी प्राप्त होता है। एक बार राजा श्रेणिक भगवान् महावीर की वन्दना करके सायंकाल के समय घर लौट रहे थे। माघ का महीना था। मार्ग में चेल्लणा ने एक साधु को प्रतिमा में स्थित देखा। घर जाकर वह सो गयी। रात को सोते-सोते उसका हाथ नीचे लटक गया और वह ठंड से सुन्न हो गया। इससे चेल्लणा के सारे शरीर में शीत व्याप्त हो गयी। यह देखकर रानी के मुँह से अचानक ही निकल पड़ा- 'उस बेचारे का क्या हाल होगा'? राजा ने समझा अवश्य ही रानी ने किसी पर पुरुष को आने का संकेत दे रखा है। क्रोध में आकर उसने अभयकुमार को अन्तःपुर में आग लगा देने का आदेश दिया। उसके बाद अपनी शंका की निवृत्ति के लिए श्रेणिक ने भगवान् महावीर के पास पहुँचकर प्रश्न किया- 'महाराज चेल्लणा का एक पति है या अनेक'? महावीर ने उत्तर दिया- 'एक'। यह सुनकर श्रेणिक तुरन्त ही वापस लौटा। आते ही उसने अभयकुमार से पूछा- 'क्या तुमने अन्तःपुर में आग लगवा दी'? अभय कुमार ने कहा- 'हाँ महाराज'। श्रेणिक ने कहा- 'तुम भी उसमें क्यों न जल मरे'? अभय ने उत्तर दिया- 'महाराज, मैं तो यह सब कांड देखकर प्रवज्या लेने जा रहा हूँ।'[४२]

दास-प्रथा

प्रस्तुत ग्रन्थ में दास-प्रथा का वर्णन मिलता है। दास-प्रथा का उस समय चलन था। दास और दासी घर का काम-काज करते हुए अपने मालिक के परिवार के साथ ही रहते थे। घर में काम करने वाले नौकर-चाकरों में कर्मकर (कम्मकर), घोट (चट्ट), प्रेष्य (पेस), भृतक पुरुष और गोपालकों का उल्लेख मिलता है।[४३] दास और दासी की गणना दस प्रकार के परिग्रहों में की गयी है।[४४] निशीथचूर्णि में छह प्रकार के दास बताये गये हैं- कुछ लोग जन्म से ही दासवृत्ति करते थे (गर्भ), कुछ को खरीदा जाता था (क्रीट), कुछ ऋण न चुका सकने के कारण दास बना लिये जाते थे (ऋणक), कुछ दुर्भिक्ष के कारण दासवृत्ति करते थे, कुछ जुर्माना आदि न दे सकने के कारण दास बन जाते थे और कुछ कर्ज न चुका सकने के कारण बन्दीगृह में डाल दिये जाते थे।[४५]

बृहत्कल्पभाष्य में उल्लेख है कि ऋणग्रस्त होने पर दासों को दासवृत्ति स्वीकार करनी पड़ती थी। ऐसा व्यक्ति यदि दीक्षा ग्रहण करना चाहे तो उसे दीक्षा का निषेध था। ऐसे व्यक्ति को यदि कहीं परदेश में दीक्षा दे दी जाये और साहूकार उसे पहचान ले और अपने घर ले जाना चाहे तो आचार्य को

अपने दीक्षित शिष्य के स्वर में परिवर्तन कर, विद्या, मंत्र और योग-बल से उसकी रक्षा करे। यह सम्भव न होने पर विद्या आदि के बल से धन कमाकर और उसका कर्ज चुकाकर दीक्षित साधु को दासवृत्ति से मुक्त करने का विधान किया गया है।[४६]

अन्न-पान

जीवन की मुख्य आवश्यकताएँ हैं भोजन, वस्त्र और रहने के लिये घर। चार प्रकार के भोजन का उल्लेख 'जैनसूत्रों' में उपलब्ध होता है- अशन, पान, खाद्य (खाइम), और स्वाद्य (साइम)।[४७] उबाले गये पदार्थों को अशन (चावल आदि), पेय पदार्थों को पान (सुरा आदि), चबाकर खाने को खाद्य (फल आदि) और स्वाद के लिए खाये पदार्थों को स्वाद्य (शक्कर, पान आदि) कहते हैं।[४८] बृहत्कल्पभाष्य में सभी तरह के पदार्थों का उल्लेख मिलता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में ब्रीहि[४९] का वर्णन है जिससे प्रतीत होता है कि लोग चावल को उबालकर खाते थे। एक जगह पक्वान्न का उल्लेख भी हुआ है।[५०] एक स्थान पर पूय[५१] का उल्लेख हुआ है जिसे सम्भवत: गेहूँ को भूनकर तैयार किया जाता था। इसी प्रकार मोरण्डक भी बनाया[५२] जाता था। लोग दूध और दूध के बने पदार्थ यथा दही, नवनीत,[५३] घी,[५४] श्रीखण्ड[५५] आदि का भी प्रयोग करते थे। लोग बेल का भी पर्याप्त प्रयोग करते थे।[५६] एक जगह फाणिय[५७] का उल्लेख है जो ईख के रस से बना एक प्रकार का राब होता था। फलों में ताड़, नारियल, कैथ, आँवला और आम का उल्लेख है और शाक-सब्जियों में लौकी का उल्लेख है।[५८] मिष्ठान्नों में आहडिया का उल्लेख है जिसे उपहार के रूप में दूसरों के घर भी भेजा जाता था।[५९] 'बृहत्कल्पभाष्य' में एक विशिष्ट प्रकार के भोजन का उल्लेख किया गया है जिसे पुलाक कहा गया है। इसके तीन प्रकार भी बताए गए हैं- धान्यपुलाक, गंधपुलाक और रसपुलाक। यह बहुत सरस एवं गरिष्ठ भोजन होता था। इसीलिए जैन निर्ग्रन्थियों को निर्देश दिया गया है कि जिस दिन उन्हें पुलाक प्राप्त हो जाय उस दिन उन्हें उससे ही संतोष कर लेना चाहिए लेकिन भूख लगने पर यदि क्षुधा शान्त न हो तो दुबारा भिक्षा के लिए वे जा सकती हैं।[६०] दाल और सब्जियों को घी से स्निग्ध करके स्वादिष्ट बनाने के लिए हींग और जीरे का छौंक दिया जाता था।[६१] 'निशीथचूर्णि' से ज्ञात होता है कि भोजन में सुपाच्य और पौष्टिक सब्जियों की प्रधानता थी।[६२] सम्पन्न लोग कलमशालि का आहार करते थे।[६३] निशीथचूर्णि से ज्ञात होता है कि एक निर्धन स्त्री के घर कोदव का ही भोजन

बनता था एक बार उसका भाई कहीं दूर देश से आया उसके सम्मान के लिए वह किसी धनी के घर से शालि का भोजन मांग कर लाई।[६४] जैन ग्रन्थों में उच्च तथा निम्न वर्ग में कहीं समानता दिखाई नहीं पड़ती। समाज का एक ऐसा विप्पन्न वर्ग भी था जो कष्टपूर्ण जीवन बिता रहा था उन्हें भरपेट भोजन भी सुलभ नहीं था।[६५]

मदिरापान

मद्य और मांस की गिनती अच्छे भोजन में की जाती थी। जैनसूत्रों में १८ प्रकार के व्यंजनों में मद्य और मांस का उल्लेख मिलता है।

शराब बड़े परिमाण में तैयार की जाती थी, और खपत भी इसकी बहुत थी। मद्यशालाओं (पाणागार; कप्पशाला) में तरह-तरह की शराब बनाकर बेची जाती थी।[६६] रस वाणिज्य (शराब का व्यापार) का १५ कर्मयानों में उल्लेख किया गया है। महाराष्ट्र में शराब की दुकानों (रसापण) पर ध्वजा लगाने का रिवाज था।[६७]

'बृहत्कल्पसूत्र' में जैन भिक्षु और भिक्षुणियों को उस स्थान पर ठहरने का निषेध किया गया है जहाँ मद्य के कुम्भ रखे रहते हों।[६८] ध्यान रखने की बात है कि जैन साधु को मद्यपान का सर्वथा निषेध था,[६९] लेकिन उपसर्ग, दुर्भिक्ष, आतंक, बुढ़ापा, रोग आदि उपस्थित होने पर मार्ग का अनुसरण कर वे मद्यपान कर सकते थे। 'ग्लानत्वे वा वैद्योपदेशेन विकटं ग्रहीतव्यम्'।[७०]

'बृहत्कल्पभाष्य' में मद्य को स्वास्थ्य और दीप्ति का कारण बताया गया है।[७१] चावल अथवा गन्ने के रस से शराब (वियड = विकट) बनायी जाती थी। यह दो प्रकार की होती थी, सुराविकट और सौवीरविकट। व्रीहि आदि के पिष्ट से बनी हुई शराब को सुराविकट तथा द्राक्षा, खजूर आदि के द्वारा बनायी हुई शराब को सौवीरविकट (मद्य) कहा जाता था।[७२] वांशी (वांस के अंकुरों से बनायी हुई) और फलसुरा फलों के रस आदि से बनायी हुई; इसे सौवीर भी कहा गया है,[७३] शराबों के कापिशायन आदि (बृ.क.भा. ३४०८) नाम भी उल्लिखित हैं।

मांस भक्षण

मद्यपान की भांति उस समय मांसभक्षण का भी रिवाज था। जैन साधुओं को दिये जाने वाले भिक्षापिंड में दूध, दही, मक्खन, घी, गुड़, तिल, मधु आदि के साथ मद्य और मांस का भी उल्लेख मिलता है। मांस या मत्स्य को पकता हुआ देखकर साधु के लिए याचना न करने का विधान है लेकिन वह किसी

रोग आदि से आक्रान्त हो तो यह नियम लागू नहीं होता। चोरपल्लि अथवा शून्य ग्राम में से होकर जाते हुए साधु के लिए मत्स्य मांस का विधान किया गया है।

बेइंदियमाईणं, संथरणे चउलहू उ सविसेसा।
ते चेव असंथरणे, विविरीय सभाव साहारे ।।[७४]

सामान्यतया जैन भिक्षुओं के लिए मद्य, मांस का निषेध ही बताया गया है। कतिपय देशों में मत्स्य और मांस भक्षण का रिवाज था। उदाहरण के लिए सिंधु देश में लोग मांस से निर्वाह करते थे, तथा आमिष-भोजी वहाँ बुरे नहीं समझे जाते थे।[७५] सूर्यप्रज्ञप्ति (५१, पृ. १५१) में उल्लेख है कि अमुक नक्षत्र में चासय, मृग, चीता, मेंढक, नखवाले जन्तु, वराह, तीतर का मांस भक्षण करने से सिद्धि प्राप्त होती है।

रीति-रिवाज

आदिकाल से ही जादू-टोना और अंध-विश्वास प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण रहे हैं। कितने ही मंत्र, मोहनी, विद्या, जादू, टोटका आदि का उल्लेख 'बृहत्कल्पभाष्य' में मिलता है जिनके प्रयोग से रोगी चंगे हो जाते, भूत-प्रेत भाग जाते, शत्रु हथियार डाल देते, युद्ध में विजयलक्ष्मी प्राप्त होती और गुप्त धन मिल जाता था। आचार्य भद्रबाहु एक महान् नैमित्तिक माने गये हैं जो मंत्रविद्या में कुशल थे। मंत्रपाठ द्वारा कुल-देवता के उपद्रव को भी शान्त किया जाता था।[७६] मंत्रविद्या की सहायता से अश्व उत्पादन करने का उल्लेख भी मिलता है।[७७]

यदि कभी कोई प्रत्यनीक सार्थवाह साधुओं के गच्छ को निकाल देता, या उनका भक्त-पान बन्द कर देता, तो अभिचारु[७८] विद्या पढ़कर उसे लौटाया जाता था।[७९] इसी प्रकार वसति में रहते हुए यदि जल, अग्नि अथवा आँधी का उपद्रव होता तो स्तंभिनी विद्या का प्रयोग किया जाता था।

उदगा-ऽगणि-वायाइसु, अन्नस्सऽसतीइ थंभणुछवणे।
संकामियम्मि भयणा, उट्ठण थंडिल्ल उन्नत्थ ।।[८०]

यदि सर्प आदि कोई विषैला जन्तु वसति में घुस जाता तो अपद्रावण (उद्द्वण) विद्या द्वारा उसे अन्यत्र पहुँचाया जाता था।[८१] स्तंभिनी और मोहनी विद्याओं द्वारा चोरों का स्तंभन और मोहन किया जाता।[८२] आभोगिनी विद्या जपने पर दूसरे के मन की बात का पता लग जाता, तथा प्रश्न, देवता और निमित्त द्वारा चोरों का पता लगाया जाता था।[८३]

'बृहत्कल्पभाष्य' में कुछ विद्याओं को उच्छिष्ट भी कहा गया है। गौरी, गंधारी आदि विद्याएँ मातंगविद्या मानी गयी हैं।[८४] यदि कोई साधु शौच गया हुआ हो और शौच शुद्धि के लिए उसे प्रासुक जल न मिल सके तो उच्छिष्ट विद्या का जाप करके, मूत्र आदि द्वारा शौच की शुद्धि की जा सकती है। आचमन द्वारा रोगी को अच्छा करने का विधान है।[८५]

'बृहत्कल्पभाष्य' में जादू-टोना और झाड़-फूँक आदि का भी विधान मिलता है। नजर से बचने के लिए ताबीज आदि बाँधा जाता था।[८६] शरीर की रक्षा के लिये अभिमंत्रित की हुई भस्म मलने अथवा डोरा आदि बाँधने को भूतकर्म कहते हैं। कभी भस्म की जगह गीली मिट्टी का भी उपयोग किया जाता था। जैन श्रमण अपनी वसति, शरीर और उपकरण आदि की रक्षा के लिए, चोरों से बचने के लिए अथवा ज्वर आदि का स्तंभन करने के लिए भूति का उपयोग करते थे।[८७] निमित्त द्वारा भूत, भविष्य और वर्तमान में लाभ हानि का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता था। चूड़ामणि निमित्तशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ था।[८८]

'जैनसूत्रों' में अनेक शुभ-अशुभ शकुनों का उल्लेख मिलता है। जगह-जगह स्नान, बलिकर्म, कौतुक, प्रायश्चित्त का उल्लेख है। अनेक वस्तुओं का दर्शन शुभ और अशुभ माना गया है। उदाहरण के लिए, यदि बारह प्रकार के वाद्यों की ध्वनि एक साथ सुनाई दे (नन्दितूर्य), शंख और पटह का शब्द सुनाई पड़े, तथा पूर्ण कलश,[८९] भृंगार, छत्र, चमर, वाहन, यान, श्रमण, संयत, दांत, पुष्प, मोदक, दही, मत्स्य, घंटा और पताका का दर्शन हो तो उसे शुभ बताया है।[९०] चरक, तापस, रोगी, विकलांग, आतुर, वैद्य, कषाय वस्त्रधारी, धूलि से धूसरित, मलिन शरीर वाले, जीर्णवस्त्रधारी, बायें हाथ से दाहिने हाथ की ओर जाने वाले स्नेहाभक्त श्वान, कुब्जक और बौने, गर्भवती नारी, बड्डुकुमारी (बहुत समय तक जो कुंवारी हो), काष्ठ भार को वहन करने वाली और कुंच्चधर (कूंर्चधर) के दर्शन को अपशकुन कहा है; इनके दर्शन से उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती।[९१] यदि चक्रचर का दर्शन हो जाय तो बहुत भ्रमण करना पड़ता है, पांडुरंग का दर्शन हो तो भूखे मरना होता है।[९२] तच्चन्तिक (बौद्ध साधु) का हो तो रुधिरपात होता है और वोटिक का दर्शन होने से निश्चय ही मरण समझना चाहिए।[९३] पाटलिपुत्र में राजा मुरुण्ड राज्य करता था। एक बार उसने अपने दूत को पुरुषपुर भेजा। लेकिन वहाँ रक्तपट साधुओं को देख, उसने राजभवन में प्रवेश नहीं किया। एक दिन राजा के अमात्य ने उसे बताया कि यदि रक्तपट गली के भीतर या बाहर मिलें तो उन्हें अपशकुन नहीं समझना चाहिए।[९४]

दिशाओं को भी शुभ और अशुभ बताया गया है।[९५] उत्तर और पूर्व दिशाओं को लोक में पूज्य कहा गया है, अतएव शौच के समय इन दिशाओं की ओर पीठ करके नहीं बैठना चाहिए।[९६] मान्यता यह है कि नैऋत्य दिशा में शवस्थापन करने से साधुओं को प्रचुर अन्न, पान और वस्त्र का लाभ होता है। पूर्व दिशा को पसन्द करने से गण या चरित्र में भेद हो जाता है, उत्तर दिशा को पसन्द करने से रोग शान्त हो जाता है, और उत्तर-पूर्व दिशा को पसन्द करने से साधु के मरण की संभावना होती है।[९७]

साधु के कालगत हो जाने पर शुभ नक्षत्र में ही उसे ले जाने का विधान है। यदि समक्षेत्र (३० मुहूर्त योग्य) हो तो एक ही पुतला बनाना चाहिए और यदि अपार्ध-क्षेत्र (१५ मुहूर्त योग्य) हो तो एक भी पुतला बनाने की आवश्यकता नहीं हैं।[९८] इसके अतिरिक्त जिस दिशा में शव स्थापित किया गया हो, वहाँ गीदड़ आदि द्वारा खींचकर ले जाये जाने पर भी, यदि शव अक्षत रहता है तो उस दिशा में सुभिक्ष और सुख-विहार होता है। जितने दिन जिस दिशा में शव अक्षत रहे, उतने ही वर्ष तक उस दिशा में सुभिक्ष रहने और परचक्र के उपद्रव का अभाव बताया है। यदि कदाचित् शव क्षत हो जाये तो दुर्भिक्ष आदि की संभावना होती है।[९९]

किसी साधु के रुग्ण हो जाने पर यदि अन्य साधुओं को वैद्य के घर जाना पड़े तो उस समय भी शकुन विचार कर प्रस्थान करने का विधान है। उदाहरण के लिए, वैद्य के पास अकेले, दुकेले या चार की संख्या में न जाये, तीन या पाँच की संख्या में ही गमन करना चाहिए। यदि चलते समय द्वार में सिर लग जाये और साधु गिर पड़े, या जाते समय कोई टोक दे, या कोई छींक दे तो इसे 'अपशकुन' समझना चाहिए।[१००]

वस्त्र एवं अलंकार

'बृहत्कल्पसूत्र'[१०१] में चार समय कपड़े बदलने की बात कही गयी है– (१) नित्य निवसन, (२) नहाने के बाद का कपड़ा (मज्जनिक), (३) उत्सवों पर पहने जाने वाले वस्त्र (क्षणोत्सविक) तथा (४) राजाओं, सभासदों इत्यादि से मिलने के समय के कपड़े (राजद्वारिक)। कपड़ों की धुलाई और तैयारी का बहुत ख्याल रखा जाता था। छेदसूत्रों में कपड़े धोने, कलफ करने और वासने की प्रथाओं का उल्लेख है। पहले कपड़े को धो लिया जाता था (धौत), फिर उस पर कुंदी कर के (घृष्ट) माड़ी (मृष्ट) दी जाती थी और अन्त में धूप से वास (संत्रधूमित) दिया जाता था।[१०२] कपड़े के भिन्न-भिन्न भागों में देवताओं

या राक्षसों का निवास माना जाता था।[१०३] 'बृहत्कल्पसूत्रभाष्य' में भेड़ के ऊन से बने कपड़े को और्णिक, ऊँट के बाल से बने कपड़े को औष्ट्रिक और हिरन के रोये से बने कपड़े को मृग रोमज कहा गया है। कुतप छाग पंचेन्द्रिय प्राणी (छाग) आदि के प्राणी से निष्पन्न होता है।[१०४] 'बृहत्कल्पसूत्रभाष्य'[१०५] की एक पाद टिप्पणी में संपादक ने ऊनी कपड़ों के सम्बन्ध में दो चूर्णियों की राय दी है। एक चूर्णि के अनुसार मृग लोम की व्याख्या 'सलोममूषकलोमं' की गयी है सलोम का अर्थ यहाँ समूर हो सकता है। मूषक लोम का अर्थ साधारणतः मूसे के बाल से है। निशीथचूर्णि में मृगलोम की व्याख्या की गयी है।

जैन साधु ठीक नाप वाले (प्रमाणवत्), सम तल (समं), मजबूत (स्थित) और सुंदर (रुचिकारक)[१०६] वस्त्र पहनते थे। जैन साधुओं को शरीर स्पर्शी ऊनी कपड़े की इसलिए मनाही थी क्योंकि उनमें जूं पैदा हो जाती थी और गर्द भी इकट्ठा हो जाती थी। लेकिन वे ऐसी ऊनी चादरें जिनके गंदे होने का भय नहीं था और जो शरीर को ठंड से बचाती थीं, पहन सकते थे।[१०७] सूती धोती न मिलने पर जैन साधु तिरीट पट्ट और रेशम (कौशिकार) की बनी धोतियाँ पहन सकते थे। ऊनी चादर न मिलने पर छालटी की चादर ओढ़ने का आदेश है। उसके भी न मिलने पर तिरीट पट्ट की चादर ओढ़ी जा सकती थी।[१०८]

'बृहत्कल्पसूत्र भाष्य' में कपड़े की कटाई सम्बन्धी अनेक शब्द आये हैं। बिना काट जोड़ वाले अनसिले कपड़े प्राकृतिक (यथाकृतं) कहलाते थे। जिस वस्त्र के केवल किनारे (दशिका) कटे होते थे अथवा जो वस्त्र दो कपड़े जोड़कर बनाया जाता था अथवा जो वस्त्र सिला होता था (तन्नुं) उसे अल्पपरिकर्म यानि कम काम किया हुआ वस्त्र कहते थे। वस्त्र में एक काट और जोड़ अथवा उसके शरीर के नाप से बनने पर और उसमें काफी सिलाई होने पर उसे बहु परिकर्म अर्थात् बहुत काम वाला कपड़ा कहते थे।[१०९]

उपर्युक्त सब तरह के कपड़े नागरिक पहन सकते थे लेकिन जैन साधुओं को केवल यथाकृत वस्त्र ही विहित था, उसके न मिलने पर कुछ प्रायश्चित्त करने के बाद वे अल्पपरिकर्म और बहुपरिकर्म वस्त्र भी पहन सकते थे। लेकिन बीमारी अथवा यात्रा के समय इस नियम के अपवाद थे।[११०]

नागरिकों द्वारा व्यवहार में लाये जाने वाले कृत्स्न कपड़े जैन साधु व्यवहार में नहीं ला सकते थे।[१११] ये कृत्स्नवस्त्र, नाम, स्थापना, श्रेणी, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार छः श्रेणियों में बँटे थे।[११२]

जैन साधुओं द्वारा कीमती वस्त्र पहनने पर भी प्रायश्चित्त का विधान था। कपड़े पहनने में यह रोक-टोक समझदारी की द्योतक थी, क्योंकि कीमती वस्त्र पहन कर विहार-यात्रा में जाने पर साधु को चोरों का डर था।[११३] यही नहीं कीमती कपड़े पहने हुए साधुओं को अक्सर चुंगी वाले भी गिरफ्तार कर लेते थे और इस सन्देह पर कि कपड़े चोरी के होंगे, उन्हें दण्ड देते थे।[११४]

उकवत से पीड़ित जैन साधुओं को विहित नाप वाले वस्त्रों से बढ़-घट कर नाप वाले वस्त्रों को भी पहनने की आज्ञा थी। वैद्य को दक्षिणा देने के लिए भी साधु किनारी वाले वस्त्र रख सकते थे।[११५]

नेपाल, ताम्रलिप्त और सिन्ध-सौवीर (सिंध-सागर दोआब और सिंध) बहुत कीमती कपड़े बनाने के प्रसिद्ध केन्द्र थे। इन देशों में साधुओं सहित सब लोग 'कृत्स्न वस्त्र' पहनते थे।[११६] सिंधु सौवीर में गंदे और भद्दे कपड़े पहनना बुरा माना जाता था। इस अवस्था में जैन साधु भी कीमती कपड़े पहन सकते थे।[११७]

वेश-भूषा

धोती और चादर के आलावा साधुओं को सूती कमरबंद (पर्यस्तक) जिनमें न तो रंग होता था न कोई नक्काशी (अचित्राः) पहनने की आज्ञा थी; बिना जोड़ का यह कमरबंद केवल चार अंगुल चौड़ा होता था।[११८] इस उल्लेख से पता चलता है कि उस युग के नागरिक रंगीन और नक्काशीदार कमरबंद पहनते थे।

चादरें

भिन्न-भिन्न तरह के पाँच-पाँच दूष्यों के दो जोड़ नागरिक व्यवहार में लाते थे। पहले जोड़ में कोयव, प्रावारक, द्राढ़िकालि, पूरिका और विरलिका हैं जिनके निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं।[११९]

१. **कोयव-** इसे रूई भरी दुलाई बतलाया गया है। इसका प्राचीन अर्थ रोएंदार कंबल था।

२. **प्रावारक-** इसे नेपाल का थुल्ये जैसा बड़ा कंबल कहा गया है क्योंकि साधारणतः कोयव का अर्थ रोएंदार कम्बल और प्रावार का अर्थ प्रचुर रोमवाला बृहत्कम्बल होता है।

३. **द्राढ़िकालि-** यह बहुत सफेद धुली हुई चादर होती थी जिसके किनारों पर दाँत जैसे अलंकार बने होते थे। यह ब्राह्मणों का परिधान था।

४. **पूरिका**- इसकी बनावट झिल्लड़ होती थी। इसका दूसरा अर्थ पाट की बनी चादर भी होता था।

५. **विरलिका**- दो सूती।

दूसरे जोड़ में उपधान, तूलि, आलिंगनिका, गंडोपधान और मसूरक नाम की तकियों का वर्णन है।[१२०]

जैन साध्वियों की वेश-भूषा

जैन साध्वियों की वेश-भूषा लंबी चौड़ी होती थी। उनके पहनावे में इस बात का ध्यान रखा जाता था कि उनका शरीर पूरी तरह से ढंक जाय। 'बृहत्कल्पसूत्रभाष्य' में उनके पहनावे के ग्यारह वस्त्र गिनाये गये हैं- जैसे अवग्रह, पट्ट, अर्धोरुक, चलनिका, अभ्यंतरनिवसनी, बहिर्निवसनी, कंचुक, औपकक्षिकी, वैकक्षिकी, संघाटी और स्कंधकारिणी।

उग्गहणंतग पट्टो अड्ढोरुअ चलणिया य बोधव्वा।
अब्भिंतर-बाहिणियंसणी य तह कंचुए चेव।।

उक्कच्छिय वेकच्छिय, संघाडी चेव खंधकरणी य।
ओहोवहिम्मि एते, अज्जाणं पण्णवीसं तु।।[१२१]

१. **अवग्रह**- शरीर के गुप्तांग को ढँकने का वस्त्र। यह बीच में चौड़ा और छोरों पर सकरा होता था। यह महीन बिना हुआ मुलायम कपड़ा होता था।[१२२]

२. **पट्ट**- यह वस्त्र कमर में बंधा रहता था। इसकी चौड़ाई चार अंगुल होती थी और लम्बाई साध्वी के कमर की नाप के अनुसार यह वस्त्र अवग्रह के छोरों से ढंकता था और इसका रूप जांघिया सा होता था। यह मध्यकालीन नीवीबंध का ही एक प्राचीन रूप था।[१२३]

३. **चलनिका**- यह अर्धोरुक जैसा ही वस्त्र था। केवल फरक इतना ही था कि यह आधी जांघों तक पहुँचता था। यह बेसिला वस्त्र होता था और उसके आकार की तुलना बांस पर नाचने वाले नट (लाङ्खिक) की कछाड़ेदार धोती से की जा सकती थी।[१२४]

४. **अर्धोरुक**-अवग्रह और पट्ट के ऊपर का यह वस्त्र पूरी कमर ढांकता था। इसका रूप तहमत (मल्लचलनाकृति) की तरह होता था, केवल फरक इतना था कि इसका चौड़ा सिरा दोनों जांघों के बीच कसकर बांध दिया जाता था (उरुद्वये च कसावबद्ध)।[१२५]

५. **अंतर्निवसनी-** कमर से लेकर यह वस्त्र आधी जांघों तक पहुँचता था। यह कपड़े पहनने के समय नंगा दिखने से बचने के लिए पहना जाता था।[१२६]

६. **बहिर्निवसनी-** कमर से लेकर यह वस्त्र एंड़ी तक पहुँचता था। यह कमर से डोरी से बंधा रहता था।[१२७] यह एक प्रकार से साड़ी ही था।

७. **कंचुक-** साध्वियों का कंचुक साढ़े तीन हाथ लंबा और एक हाथ चौड़ा बेसिला वस्त्र। इसे कमर के दोनों ओर बांध लिया जाता था। इससे कठोर स्तन भी जिनका उभार कसे वस्त्रों के पहनने से ही उठता था ढंक जाते थे।[१२८] यहाँ गृहस्थ स्त्रियों की तरह साध्वियों के लिए कंचुक न पहन सकने के कारण बेसिले कंचुक का विधान है।

८. **औपकक्षिकी-** यह कंचुक के ही समान डेढ़ हाथ लंबा एक चौखुटा वस्त्र था। यह छाती का एक भाग ढकते हुए दाहिने कंधे पर बांध दिया जाता था।[१२९]

९. **वैकक्षिकी-** यह वस्त्र औपकक्षकी के प्रतिकूल बायीं ओर पहना जाता था। यह पट्ट, कंचुक और औपकक्षी को ढंक लेता था।[१३०]

१०. **संघाटी-** संघाटियाँ चार होती थीं। एक दो हाथ चौड़ी, दो तीन हाथ और एक चार हाथ। लंबाई में ये चारों संघाटियाँ साढ़े तीन हाथ से चार हाथ तक होती थीं। दो हाथ चौड़ी एक संघाटी साध्वियाँ आवसथ में पहनती थीं। तीन हाथ चौड़ी दो संघाटियों में से एक तो साध्वियां भिक्षा मांगने के अवसर पर पहनती थीं और दूसरी शौच जाने के समय। चार हाथ चौड़ी संघाटी धर्मोपदेश सुनते समय इसलिए पहनी जाती थी कि साध्वियों के सीधे खड़े होने पर उनका पूरा अंग ढंक जाय।[१३१]

११. **स्कंधकरणी-** यह चार हाथ लंबाई का समचतुरस्त्र कपड़ा होता था जो कंधे पर तेज हवा से बचने के लिए रखा जाता था। इस वस्त्र का उपयोग साध्वियों को बौनी दिखलाने के लिए किया जाता था।[१३२]

'बृहत्कल्पभाष्य' में वस्त्र तैयार करने का भी उल्लेख मिलता है। पहले कपास (सेडुग) को ओटकर (रूंचंत) उसकी रूई बनायी जाती, फिर उसे पींजते थे (पिंजिय) और उससे पुनी (पेलु) तैयार की जाती थी।[१३३] कपास, दुगुल्ल और मुंज (वज्जक)[१३४] के कातने का उल्लेख आता है। बुनकरों की शालाओं

(तन्तुवायशाला) में कपड़ा बुना जाता था। नालंदा के बाहर इस प्रकार की एक शाला में ज्ञातृपुत्र महावीर और मंखलिपुत्र गोशाल साथ-साथ रहे थे।[१३५]

'बृहत्कल्पभाष्य' में पाँच प्रकार के दूष्य वस्त्र बताये गये हैं- (कोयव)[१३६] (रूई का वस्त्र), पावारग-प्रावरक[१३७] (कम्बर), दाढ़िआलि[१३८] (दाँतों की पंक्ति के समान श्वेत वस्त्र), पूरिका[१३९] (टाट आदि जो मोटे कपड़े से बुनी गयी हो) और विरलिका[१४०] (दूसरे सूत से बुना हुआ वस्त्र जैसे दुलई आदि)।[१४१] गंडोपधान (गालों पर रखने के तकिये), और मसूरक (चर्म-वस्त्र से बने हुए गोल रुई के गद्दे) का भी उल्लेख है।[१४२] चेलचिलमिणि[१४३] एक प्रकार की यवनिका (कनाट) थी जो जैन साधुओं के उपयोग में आती थी।[१४४] यह पाँच प्रकार की बतायी गयी है- सूत की बनी हुई (सुत्तमई), रस्सी की बनी हुई (रज्जुमई), वृक्षों की छाल की बनी हुई (कडगमई)आदि। यह कनात पाँच हाथ लम्बी और तीन हाथ चौड़ी होती थी।[१४५]

औजार एवं उपकरण

उस समय लोम तरह-तरह के उपकरण प्रयोग में लाते थे। 'बृहत्कल्पभाष्य' में कुछ उपकरणों के नाम दिये हुए हैं- तालिका (जूते की तल्ली फटकर बिवाई फटने पर उपयोग में आने वाला पदार्थ), वर्ध्र (जूते सीने के काम में आने वाला औजार), कोशक (नखभंग की रक्षा के लिए अंगस्ताना), कृत्ति (रापी), सिक्कक (छींके के समान कोई उपकरण), कपोतिका (जिसमें बालसाधु आदि को बैठाकर ले जाया जा सके), पिप्पलक (छुरी), सूची (सूई), आरिका, नखार्चनी (नहरनी), औषध, नन्दी भाजन, धर्मकरक (पानी आदि छानने के लिए छनना), गुटिका आदि[१४६] शल्यक्रिया में प्रयोग होने वाले उपकरण बाक्स सत्थकोस का भी उल्लेख है।[१४७]

अलंकार

स्त्रियाँ आभूषणों की सदा से शौकीन रही हैं। वे सोने-चाँदी के विविध आभूषण धारण करती थीं। जिससे सुनारों (सुवण्णकारों) का व्यापार खूब चलता था। 'बृहत्कल्पभाष्य' में अनंगसेन नामक एक ऐसे ही स्वर्णकार का उल्लेख हुआ है।[१४८]

'बृहत्कल्पभाष्य' में सूई का उल्लेख भी है।[१४९] वस्त्र धारण करने के भी संकेत मिलते हैं। जैन साधुओं के लिए निर्देश है कि वे रंगे हुए वस्त्र धारण न

करें। वे किनारी (दसा) वाले वस्त्र भी धारण नहीं कर सकते थे। उनके लिए विधान है कि थूणा (थानेश्वर) में अभिन्न (अखण्ड) वस्त्र पहनना चाहिए, लेकिन किनारी काटकर ही।[१५०] आवश्यकता पड़ने पर तालाचर (नट, नर्तक आदि), देवछत्रधारी, वणिक, स्कन्धावार, सैन्य, संवर्त (चोरों के भय से) किसी नायक के नेतृत्व में जहाँ बहुत से ग्राम हों, लाकुटिक, गोकुलवासी, सेवक, जामाता और पथिकों से वस्त्र ग्रहण करने का विधान है। ये लोग नये वस्त्र लेकर पुराने वस्त्रों को श्रमणों को दे देते थे।[१५१] वस्त्रों के विभाग करने की विधि बताई गई है। पासा डालकर भी वस्त्रों का विभाजन किया जाता था।[१५२]

'बृहत्कल्पभाष्य' में पट्ट का उल्लेख है जो एक चिपटा वस्त्र होता था। इसे धागों से कसकर बांध दिया जाता था और कमर को ढकने के लिए यह काफी था। यह चौड़ाई में चार अंगुल स्त्री के कटिप्रमाण होता है। इससे उग्गहणंतग के दोनों छोर ढक जाते हैं। कटि में इसे बांधा जाता है और आकार में यह जांघिये की भांति होता है। भगन्दर और अर्श (ववासीर), इत्यादि से पीड़ित होने पर यह विशेष उपयोगी होता था।[१५३]

'बृहत्कल्पभाष्य' में कपड़ों को विविध रंगों से रंगने, सुगन्धित पदार्थों से सुवासित करने और स्वर्ण तारों से सज्जित करने का उल्लेख भी हुआ है।[१५४]

समाज में सभी वर्गों के स्त्री-पुरुष समान्यत: आभूषणों से अपने को अलंकृत करते थे। आभूषण सोने-चाँदी मणि-मुक्ताओं और रत्नों से बनाये जाते थे।[१५५] शरीर को सजाने संवारने के लिये विविध प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधनों का उपयोग किया जाता था। 'बृहत्कल्पभाष्य' और 'आचारांग' से सूचित होता है कि चन्दन, कर्पूर और लोध्र के विलेपनों और उवटनों से शरीर को सुन्दर बनाया जाता था।[१५६] पैरों को आच्छादित करने के लिये उपानह (जूतों) का उपयोग किया जाता था। भाष्यकाल तथा चूर्णिकाल में चमड़े की भाँति-भाँति के सुन्दर जूते पहने जाते थे।[१५७] 'बृहत्कल्पभाष्य' में उल्लेख है कि जब जैन श्रमण यात्रा पर हों, बीमार हों, जिनके पैर मुलायम हों, जंगली जानवरों का भय हो, जो कुष्ठ रोग या अर्श से पीड़ित हों तो वे जूते पहन सकते हैं।[१५८] 'निशीथचूर्णि' से ज्ञात होता है कि स्त्री-पुरुष पाँच रंग के सुगन्धित पुष्पों की मालाएँ धारण करते थे।[१५९] पर्वों तथा उत्सवों के अवसर पर फूलों की बड़ी आवश्यकता पड़ती थी इसलिये फूल-मालाओं का मूल्य बढ़ जाता था।[१६०]

क्रीड़ा-विनोद

प्राचीन भारत के निवासी अनेक प्रकार से आमोद-प्रमोद और मनबहलाव किया करते थे। यह, छण (क्षण), उत्सव, यज्ञ, पर्व, पर्वणी, गोष्ठी, प्रमोद और संखडि आदि ऐसे कितने ही उत्सव और त्योहार थे जबकि लोग जी-भरकर आनन्द लेते थे। ऐसे अवसरों पर तरह-तरह के व्यंजन भी बनाये जाते थे। नामकरण, चूड़ाकरण और पाणिग्रहण आदि ऐसे ही उत्सव थे जिसमें लोग सम्मिलित हुआ करते थे।[१६१]

प्रौढ़ों को क्रीड़ा करने के लिये अनेक उद्यान और आराम आदि होते थे। उद्यान में लोग विविध प्रकार के वस्त्र आदि धारण कर हस्त आदि के अभिनयपूर्वक श्रृंगार-काव्य का पठन करते तथा सुन्दर वस्त्र और आभूषण से अलंकृत स्त्री और पुरुष वहाँ क्रीड़ा करने जाते थे। श्रेष्ठीपुत्र यहाँ अपने-अपने अश्वों, रथों, गोरथों, युग्मों और डगणों (यान विशेष) पर आरूढ़ होकर भ्रमण किया करते थे।[१६२] 'बृहत्कल्पभाष्य' में पूर्णमासी[१६३] और स्थानौत्पातिक[१६४] नामक दो उत्सवों का उल्लेख प्राप्त होता है। इन उत्सवों पर लोग अनेक तरह से खुशियाँ मनाते थे। धार्मिक उत्सवों में पर्व का सबसे अधिक महत्त्व था।

'बृहत्कल्पभाष्य' में 'रथयात्रा' नामक पर्व का विशद विवरण उपलब्ध है। इसमें लोग यान के साथ भ्रमण करते थे और खुशियाँ मनाते थे। लेकिन ऐसे पर्वों में जैन श्रमण एवं श्रमणियों के जाने का निषेध किया गया है।[१६५]

विवाह के पूर्व लोग पान देकर मन बहलाते थे। इसे प्रस्तुत ग्रंथ में 'अवाह' कहा गया है।[१६६]

बृहत्कल्पभाष्य में संखडि[१६७] का भी उल्लेख है जो एक प्रकार से भोज या दावत होती थी। अधिक संख्या में जीवों की हत्या होने के कारण इसे संखडि[१६८] कहते थे। अनेक पुरुष मिलकर एक दिन की अथवा अनेक दिन की संखडि करते थे।[१६९] सूर्य के पूर्व दिशा में रहने के काल में पुरःसंखडि और सूर्य के पश्चिम दिशा में रहने के काल में पश्चात् संखडि मनायी जाती थी। अथवा विवक्षित ग्राम आदि के पास पूर्व दिशा में मनाये जाने वाले उत्सव पुरः संखडि और पश्चिम दिशा में मनाये जाने वाले उत्सव को पश्चिम संखडि कहा जाता था।[१७०]

१. यावन्तिका, २. प्रगणिता, ३. सक्षेत्रा (क्षेत्राभ्यंतरवर्तिनी), ४. अक्षेत्रा आभ्यंतरवर्तिनी, ५. बहिर्वर्तिनी, ६. आकीर्णा, ७. अविशुद्धपंथगमना, ८. सप्रत्यपाया के भेद से संखडि आठ प्रकार के बताये गये हैं। प्रत्यपाय संखडि

में चोर, श्वापद आदि से व्याघात होने का भय रहता है। इसमें प्रमत्त हुई चटिका और तापसी आदि भिक्षुणियों द्वारा ब्रह्मचर्य भंग होने की आशंका बनी रहती है।[१७१]

संखडि अनेक स्थानों पर मनायी जाती थी। आनन्दपुर के निवासी सरस्वती नदी के पूर्वाभिमुख प्रवाह के पास शरद ऋतु में यह मनाते थे।[१७२] गिरियज्ञ आदि[१७३] जैसी सायंकाल मनायी जाने वाली संखडि में रात्रि को भोजन किया जाता था और प्रातःकाल सूर्योदय के समय दुग्धपान आदि का रिवाज था।[१७४] उज्जयंत और सिद्धशिला आदि सम्यक्त्व-भावित तीर्थों पर प्रतिवर्ष संखडि मनायी जाती थी।[१७५] शय्यातर (गृहस्वामी) की देवकुलिका[१७६] के और नये घर के व्यंतर को प्रसन्न करने के लिए भी संखडि मनायी जाती थी।[१७७] 'बृहत्कल्पभाष्य' में एक जगह उल्लेख है कि गिरिनार, आबू, प्रभास आदि तीर्थों पर संखडि का उत्सव मनाया जाता था जिसमें शाक्य, परिव्राजक आदि अनेक साधु आते थे। उसमें लोग दूर-दूर से आकर सम्मिलित होते थे और खूब खा-पीकर विकाल में पड़े सोते रहते थे।[१७८]

जैन श्रमणों को यथासंभव संखडियों में जाने का निषेध है। संखडि में उपस्थित जैन श्रमणों को देखकर लोग यह भी कह देते थे कि रुक्ष भोजन से ऊबकर अब ये यहाँ आये हैं और उससे प्रवचन का उपहास होता था।[१७९] संखडि के समय कुत्तों द्वारा भोजन अपहरण किये जाने की और चोरों के उपद्रव की आशंका रहती थी। ऐसे अवसरों पर उन्मत्त हुए लोग विविध प्रकार के वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो अनेक अभिनयों से पूर्ण शृंगार रस के काव्य पढ़ते थे और मत्त हुए स्त्री-पुरुष विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ करते थे।[१८०]

औषधि एवं चिकित्सा

प्राचीन भारत में आयुर्वेद को जीवन का विज्ञान और कला कहा गया है। इसमें रोगनाशक औषधि और 'शल्यक्रिया' से संबंधित औषधियां सम्मिलित की जाती हैं। चिकित्सक को वैद्य कहा गया है।

रोगों में दुब्भूय (दुर्भूत – ईति; टिड्डी दल द्वारा धान्य को हानि पहुँचाना), कुल रोग, ग्रामरोग, नगररोग, मंडलरोग, शीर्षवेदना, दंतवेदना, खसर (खसरा), पांडुरोग, एक-दो-तीन-चार दिन के अन्तराल से आने वाला ज्वर, इन्द्रग्रह, धनुर्ग्रह,[१८१] यक्षग्रह, भूतग्रह, वल्गुली[१८२] (जी मिचलना), विषकुंभ (फुडिया)[१८३] आदि का उल्लेख है। कहा गया है कि पुरीष के रोकने से मरण, मूत्र के निरोध से दृष्टिहानि और वमन के निरोध से कुष्ठरोग की उत्पत्ति होती है।[१८४]

वैद्यशास्त्र सम्मत चिकित्सा न करने पर राजा द्वारा वैद्य को दंड देने का भी उल्लेख है। एक राजवैद्य के मर जाने पर राजा ने उसके पुत्र को बुलाकर किसी निपुण वैद्य के पास जाकर वैद्य विद्या सीखने को कहा। वहां एक गलगंड रोगयुक्त बकरी के गले में फंसे ककड़ी के चुकड़े को निकालने के लिए अपने गुरु को बकरी के गले में वस्त्र डालकर गला मरोड़कर ककड़ी निकालता देखा और उसी को वैद्य-रहस्य समझ लिया। एक बार एक रानी को गलगंड हो गया। वैद्यपुत्र को रानी के पास लाया गया। वैद्यपुत्र ने पूछा रानी कहां-कहां गयी थी। लोगों ने वैद्यपुत्र के संतोष के लिए कहा- पिछवाड़े। वैद्यपुत्र ने रानी के गले में वस्त्र लपेटकर उसे ऐसा मरोड़ा कि वह मर गयी। यह देखकर राजा को क्रोध आया और उसने राजपुत्र को दण्डित किया।[१८५]

किसी राजा को अक्षिरोग हो गया। उसने वैद्य को दिखाया। वैद्य ने उसे आँख में आँजने की गोलियाँ दी। लगाते समय तीव्र वेदना होती थी। वैद्य ने पहले ही राजा से वचन लिया कि वेदना होने पर भी वह उसे दण्ड न देगा। वैद्य ने गोलियां राजा की आँख में आंज दी और राजा का अक्षिरोग नष्ट हो गया।[१८६]

बृहत्कल्पसूत्र के ग्लानद्वार में चिकित्सा-पद्धति का सुंदर चित्रण किया गया है। कहा गया है कि ग्लान यानी रुग्ण साधु के समाचार मिलते ही उसका पता लगाने के लिये जाना चाहिए, वहाँ उसकी सेवा करने वाला कोई है कि नहीं- इसकी जाँच करनी चाहिए, जाँच न करने वाले के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। ग्लान साधु की श्रद्धा से सेवा करने वाले के लिए सेवा के प्रकार, ग्लान साधु की सेवा के लिए किसी की विनती या ज्ञाता की अपेक्षा रखने वाले के लिए प्रायश्चित्त का विधान, ग्लान की सेवा करने में अशक्ति का प्रदर्शन करने वाले को शिक्षा, ग्लान साधु की सेवा के लिए जाने में दुःख का अनुभव करने वाले के लिए प्रायश्चित्त, उद्गम आदि दोषों का बहाना करने वाले के लिए प्रायश्चित्त, ग्लान साधु की सेवा के बहाने से गृहस्थों के यहाँ से उत्कृष्ट पदार्थ, वस्त्र, पात्र आदि लाने वाले तथा क्षेत्रातिक्रान्त, कालातिक्रान्त आदि दोषों का सेवन करने वाले लोभी साधु को लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, ग्लान साधु के पथ्यापथ्य का विधान, ग्लान साधु के विशेष असाध्य रोग के लिए उपवास की चिकित्सा, आठ वैद्यों[१८७] के नाम (१) संविग्ग (२) असंविग्ग, (३) लिंगी, (४) श्रावक (५) संज्ञी (६) अनभिगृहीत असंज्ञी (मिथ्या-दृष्टि), (७) अभिगृहीत असंज्ञी (८) परतीर्थिक की विस्तार से चर्चा है।

कोढ़ हो जाने पर जैन श्रमणों को बहुत कष्ट भोगना पड़ता था। यदि कहीं उन्हें गलित कोढ़ हो जाता या उनके शरीर में कच्छु (खुजली) या किटिभ[१८८] (खाज युक्त क्षुद्र कोढ़) हो जाता, या जुएँ पैदा हो जाते तो उन्हें निर्लोम चर्म पर लिटाया जाता।[१८९]

ऊर्ध्ववात, अर्श, शूल आदि रोगों से ग्रस्त होने पर साध्वी को निर्लोम चर्म रखने का तथा पागल कुत्ते के काटने पर उसे व्याघ्र चर्म पर सुलाने का विधान है।[१९०] यदि साधु-साध्वियों को सांप काट लेता, विसूचिका (हैजा) हो जाती, या ज्वर हो जाता तो उन्हें एक-दूसरे का मूत्रपान करने का विधान किया गया है।[१९१] किसी राजा को महाविषधारी सर्प ने डंस लिया, लेकिन रानी का मूत्रपान करने से वह स्वस्थ हो गया।

दीहे ओसहभावित, मोयं देवीय पज्जिओ राया।
आसाय पुच्छ कहणं, पडिसेवा मुच्छिओ गलितं ।।[१९२]

घावों को भरने के लिये वैद्य अनेक प्रकार के घृत और तेलों का उपयोग करते थे। ये सब तेल थकावट दूर करने, वात रोग शान्त करने, खुजली (कच्छू) मिटाने और घावों को भरने के उपयोग में आते थे।[१९३] चिकित्सा में असफल होने पर चिकित्सकों को अपने प्राण तक गवाँने पड़ते थे क्योंकि उल्लेख है कि कोई वैद्य किसी राजपुत्र को निरोग न कर सका, अतएव उसे प्राणों से हाथ धोना पड़ा था।[१९४]

काँटे वाले प्रदेश में काँटा गड़ने पर उस जगह पर गेहूँ के आटे का लेप कर दिया जाता था। तत्पश्चात् शल्यक्रिया द्वारा उसका उपचार कर दिया जाता था। मवाद निकलने के साथ ही कांटा भी बाहर निकल आता था।[१९५]

भूत आदि द्वारा क्षिप्तचित्त हो जाने पर भी चिकित्सा की जाती थी। साध्वी के यक्षाविष्ट होने पर भूतचिकित्सा का विधान किया गया है।[१९६] चिकित्सा के समय औषधियों की मात्रा का ध्यान रखा जाता था।[१९७]

'बृहत्कल्पभाष्य'[१९८] में हंस तेल का उल्लेख किया गया है। इसे बनाने के लिए हंस को चीरकर, उसका मलमूत्र साफ करके, उसके पेट में औषधियों का मिश्रण भरकर तेल में पकाया जाता था।

विद्या, मंत्र और योग को तीन अतिशयों में गिना गया है। तप आदि साधनों से सिद्ध होने वाले को विद्या, और पठन-मात्र से सिद्ध होने वाले को मंत्र कहा गया है। विद्या प्रज्ञप्ति आदि स्त्री देवता से और मंत्र हरिणेगमेषी आदि पुरुष देवता

से अधिष्ठित कहे गये हैं। विद्वेष, वशीकरण, उच्छेदन और रोग शान्त करने के लिए योग का प्रयोग करते थे। योग (पादलेपन आदि) सिद्ध होने के पश्चात् चरणों पर लेप करने से आकाश में उड़ा जा सकता था।[१९९]

चिकित्सा पद्धति पर भी इस ग्रंथ में थोड़ा प्रकाश डाला गया है। उल्लेख है कि बीमार पड़ने पर साधुओं को चिकित्सा के लिए दूसरों पर अवलम्बित रहना पड़ता था। पहले तो चिकित्सा में कुशल साधु द्वारा ही रोगी की चिकित्सा किये जाने का विधान है, लेकिन फिर भी यदि बीमारी ठीक न हो तो किसी अच्छे वैद्य को दिखाना चाहिए। आवश्यकता होने पर साधुओं को वैद्य के स्नान, शयन, वस्त्र और भोजन आदि की व्यवस्था भी करनी चाहिए। यदि वैद्य अपनी दक्षिणा माँगे तो साधु दीक्षा लेते समय जो धन निकुंज आदि में गाड़कर रखा हो उससे, अथवा योनिप्राभृत की सहायता से धन उत्पन्न कर वैद्य दक्षिणा देना चाहिए। यदि यह संभव न हो तो यंत्रमय हंस अथवा कपोत आदि द्वारा उपार्जित धन वैद्य को दक्षिणा के रूप में देना चाहिए। शूल उठने पर अथवा विष, विसूचिका या सर्पदंश से पीड़ित होने पर साधुओं को रात्रि के समय भी औषधि सेवन करने का विधान है।[२००]

सन्दर्भ

१. पी.वी.काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-१, पृ. ११९।

२. बृहत्कल्पभाष्य, ३२६४। इनमें अंबहट और तन्तुण निम्न जाति के थे-जगदीश चन्द्र जैन, जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. २२२।

३. वही, गा. ३२६५, स्थानांग, ६/३५

४. वही, गा. ४५२३

५. वही, गा. १४५६

६. 'भूतसंरक्षणं हि क्षत्रियाणां महानधर्मः'। कृत्यकल्पतरु, गृहस्थ पृ. २५३, यशस्तिलक, पृ. ९५

७. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३२६५, जगदीशचन्द्र जैन, जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृष्ठ २२९

८. वही, गा. १२०५

९. वही, गा. ६३०३।

१०. वही, गा. ४२१९ व ४२२३

११. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३१७८
१२. वही, पीठिका पृ. ५९१
१३. धनमित्र के हाथीदांत का व्यापार करने का उल्लेख मिलता है। आवश्यक चूर्णि २, पृ. १५४
१४. वही, गा. ५६३९
१५. वही, गा. ६३०५
१६. विस्तार के लिए देखिए- रामशरण शर्मा, 'शूद्राज इन एंशियेंट इण्डिया'
१७. बृहत्कल्पभाष्य, गा. २८८५
१८. वही, गा. ३८३०
१९. वही, गा. ६१३
२०. वही, गा. २८८३
२१. वही, गा. १०९७
२२. जगदीशचन्द्र जैन, जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. २३२
२३. बृहत्कल्पभाष्य, पृ. ४०४ व १४०८
२४. पिण्डनिर्युक्ति टीका, ५०९
२५. जगदीश चन्द्र जैन, जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. २५३
२६. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३४४६।
२७. वही, पीठिका गा. १७२, पृ. ५७
२८. वही, पीठिका गा. १५५-५९
२९. आवश्यकचूर्णि, पृ. १५३
३०. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३९५९ आदि
३१. वही, गाथा ५७६१
३२. वही, गा. ५१४७ टीका।
३३. वही, पीठिका गा., ४१३
३४. डॉ. जयशंकर मिश्र- प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९८०, पृ. ३८३
३५. जाया पितिव्या नारी दत्ता पतिव्वसा।
विहवा पुत्तवसा नारी नत्थि नारी सयंवसा ।। -व्यवहारभाष्य, ३.२३३
३६. बृहत्कल्पभाष्य, गा. १२५९

३७. बृहत्कल्पभाष्य, पीठिका गा. १४६; तथा व्यवहार भाष्य ५.१३९

३८. जम्बूद्वीप्रज्ञप्ति, ३.६७; उत्तराध्ययनटीका १८, पृ. २४७-अ। देखिए- दीघनिकाय १, अम्बट्ठसुत्त पृ. ७७। यहाँ चक्क, हत्थि, अस्स, मणि, इत्थि, गृहपति और परिणायक रत्नों का उल्लेख है।

३९. ज्ञाताधर्मकथा ८; कल्पसूत्रटीका, २, पृ. ३२ अ-४२ अ।

४०. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ४३४८

४१. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ४३४९

४२. वही, पीठिका गा. १७२, पृ. ५८

४३. वही, गा. २६३४

४४. वही, गा. ८२५

४५. निशीथचूर्णि, ११.३६७६। मनुस्मृति (८.४१५) में सात प्रकार के और याज्ञवल्क्यस्मृति (१४, पृ. २४९) में १४ प्रकार के दास गिनाये गये हैं। अर्थशास्त्र (३.१३.१-४९), पृ. ६५) इत्यादि में भी दासों के सम्बन्ध में विवेचन मिलता है।

४६. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ६३०१-९

४७. ज्ञाताधर्मकथा ६, पृ. ८४। अन्य प्रकारों में पशुभक्त, मृतकभक्त, कांटारभक्त, दुर्भिक्षभक्त, दमगभक्त, ग्लानभक्त आदि का उल्लेख है- नि. सू., ९.६

४८. मधुसेन, 'ए कल्चरल स्टडी आफ दी निशीथचूर्णि, पृ. १२४

४९. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३२४०

५०. वही, गा. २४४५

५१. वही, गा. ३४७६

५२. वही, गा. ३४७६

५३. वही, गा. ३२८९

५४. वही, गा. २४३४

५५. वही, गा. ३४७५

५६. वही, गा. ५९९७ व ६०३२

५७. वही, गा. ५९९७-६०-३२

५८. वही, गा. ८५२

५९. वही, गा. ३६१७

६०. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ६०४७ व ५९
६१. वही, गा. १६१३; नि. चू., २.१६५५
६२. नि.चू., ३.४८३७
६३. नि.चू., ३.२०२५; उपासकदशांग, १.२९
६४. वही, ३.४४९५
६५. 'अंतरिज्ज वा उत्तरिज्ज' – वही, पीठिका गा. ७१०
६६. नि.भा., ९.२५३५; व्यवहार भा., १०.४८५
६७. बृहत्कल्पभाष्य, पृ. ३६२, गा. ३५३९
६८. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. १९८
६९. कल्पसूत्र, ९.१७ में विधान है कि पूर्यषण पर्व में स्वस्थ जैन भिक्षु और भिक्षुणियाँ दूध, दही, नवनीत, घी,तेल, गुड़, मद्य, मधु और मांस का सेवन न करें। मद्यजन्य दोषों के लिए देखिए। –नि.चू.पीठिका १३१; कुंभजातक, (५१२), ५,पृ. १०२-१०९
७०. बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति, गा. ३४१३
७१. वही, गा. ६०३५ पर वृत्ति आदि।
७२. वही, गा. ३४१२
७३. वही, भाग-४, गा. ३४१२
७४. वही, गा. २९०६-११; निशीथचूर्णिपीठिका पृ. १४९
७५. वही, गा. १२३९, २९०६
७६. वही, ५११२-१३, ५११६
७७. वही, गा. २६८१ संयोजनाधिकरण, नि.चू., ४, पृ. २८१
७८. निशीथचूर्णिपीठिका, ४९०
७९. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ५९८२
८०. वही, गा. २७४४
८१. वही, गा. २७४६
८२. वही, गा. ४८०९
८३. वही, गा. ४६३३
८४. वही, गा. २५०८

८५. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ५९८२-८३

८६. वही, गा. १३०९ और टी., नि.भा., १३, पृ. ३८३ आदि। व्य. ब. भा., १, पृ. ११६-अ में कौतुक का अर्थ आश्चर्य किया गया है। इसके द्वारा कोई मायावी मुँह में लोहे के गोले रखकर उन्हें कानों से निकालता है। अथवा सौभाग्य आदि के लिए स्नान आदि करने को कौतुक कहा गया है।

८७. बृहत्कल्पभाष्य, गा. १३१०

८८. वही, गा. १३११-१३; नि.चू., वही

८९. वही, १५५०

९०. वही, गा. १५४९-५०; ओ. नि. भा., १०८-११०

९१. वही, गा. १५४७-४८ की वृत्ति; ओ. नि. भा., ८२-४, जै. आ. सा. में भा. स. पृ. ३५४

९२. बृहत्कल्पसूत्र भाष्य, गा. १५५१

९३. जै.आ.सा. में भा.स., पृ. ३५४

९४. वही, गा. २२९२-९३

९५. दिसापोक्खी सम्प्रदाय के अस्तित्व से भी दिशाओं का महत्त्व सूचित होता है। जै.सा. में भा.स., पृ. ३५६

९६. बृहत्कल्पभाष्य, पीठिका गा. ४५६-५७

९७. वही, गा. ५५०५-०६ आदि; तथा भगवतीआराधना-१९७० आदि।

९८. वही, गा. ५५२७

९९. वही, पीठिका गा. ५५५४-५६

१००. वही, गा. १९२१-२४

१०१. वही, पीठिका गा. ६४४-६४७

१०२. वही, गा. ३००१ की वृत्ति, बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति, भाग-३, पृ. ८४८

१०३. वही, गा. २८८३

१०४. वही, गा. ३६६२

१०५. वही, पृ. १०१८, पा. टि. २

१०६. वही, गा. २८३५

१०७. वही, गा. ३६६७

१०८. वही, गा. ३६६३

१०९. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३६७१

११०. वही, गा. ३६७२

१११. वही, पृ. १०६७

११२. वही, गा. २८८०

११३. वही, गा. ३९९९, ३९००

११४. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३९०१

११५. वही, गा. ३९०७

११६. वही, गा. ३९१२

११७. वही, गा. ३९१४

११८. वही, गा. ५९६८

११९. वही, गा. ३८२३

१२०. वही, गा. ३८२४

१२१. वही, गा. ४०८२-८३

१२२. वही, गा. ४०८४

१२३. वही, गा. ४०८५

१२४. वही, गा. ४०८६

१२५. वही, गा. ४०८६

१२६. वही, गा. ४०८७

१२७. वही, गा. ४०८६

१२८. वही, गा. ४०८८

१२९. वही, गा. ४०८९

१३०. वही, गा. ४०८९

१३१. वही, गा. ४०८९-९०

१३२. वही, गा. ४०९१

१३३. वही, गा. २९९६; पि. नि., ५७४

१३४. नि.चू., ७, पृ. ३९९ सू.कृ.टी., २,६ पृ. ३८८

१३५. आव. चू., पृ. २८२

१३६. रूतपूरितः पटः लोके 'माणिकी' इति प्रसिद्धा

१३७. नेपालादिरूल्वणरोमा बृहत्कंबलः।

१३८. यथामुखमध्ये यमलितो भयदंतपंक्तिरूपा दाढ़िकालि-दन्तावलीर्निरीक्ष्यते एवं धौतपोतिकाऽपि द्विजसलसदशवस्त्रपरिधानरूपा दृश्यमाना दाढ़िकालिखि प्रतिभाति।

१३९. पूर्यते स्तोकरैपि तन्तुभिः पूर्णीभवतीति पूरिका-स्थूलशणगुणपयपटालिका यथा धान्योगोणिका क्रियन्ते हस्ताधास्तरणानि वा।

१४०. द्विसरसृपाटी

१४१. बृहत्कल्पभाष्य, ३,३८२३ आदि तथा टीका

१४२. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३८२४; नि.भा.; १२.४००१-४००२

१४३. बृहत्कल्पभाष्य, गा. १८; बौद्धों के चुल्लवग्ग, ६.१, पृ. २४३ में इसे चिलमिलिका कहा गया है।

१४४. नि.भा., १.६५५-५६

१४५. बृहत्कल्पभाष्य, गा. २३७४ आदि, गा. ४८०४; ४८११, ४८१५; ४८१७

१४६. वही, गा. ८१७-८१९

१४७. वही, गा. २८८३

१४८. वही, गा. ५२२५

१४९. वही, गा. ३९९२ टीका

१५०. वही, गा. ३९०-५। मूलसर्वास्तिवाद के विनयवस्तु पृ. ९५ में छन्नदश और दीर्घदश का उल्लेख है।

१५१. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ४२६८

१५२. वही, गा. ४३२३-४३२९

१५३. वही, गा. ४१०२

१५४. वही, गा. ३००१

१५५. वही, गा. २१७०

१५६. वही, गा.२५५७; आचारांग २.२.९६; नि.चू., २, पृ. २६, ४.५२०४

१५७. वही, गा. २८८५; नि. चू. २.९१४

१५८. वही, गा. ३८६२

१५९. नि.चू. २.२८७

१६०. बृहत्कल्पभाष्य, गा. १५९८

१६१. बृहत्कल्पभाष्य, वृत्ति, भाग-१, पीठिका गा. ६४४। वात्स्यायन ने कामसूत्र में पाँच प्रकार के उत्सवों का उल्लेख किया है- विविध देवताओं सम्बन्धी उत्सव (समाज, यात्रा और घट), स्त्री-पुरुष की गोष्ठियाँ, आपानक, उद्यान-यात्रा और समस्याक्रीड़ा,सूत्र २६, पृ. ४४

१६२. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३१७०-७१

१६३. वही, गा. १४५१ तथा देखिए वट्टक जातक, (११८), पृ. ३३ आदि।

१६४. बृहत्कल्पभाष्य, भाग-२, गा. १८१४

१६५. वही, गा. ३२८५ तथा प्रथम उद्देश का अनुयोगद्वार।

१६६. वही, गा. ४७१६छ। जीवाभिगम ३, पृ. २८०-अ; पियदसि के ९वें आदेशपत्र में पुत्र के विवाह को अवाह और कन्या के विवाह को विवाह कहा गया है; तथा दीघनिकाय १, अंबट्ठसुत्त, पृ. ८६

१६७. भोज्जं ति वा सखडित्ति वा एगट्ठं - बृ. क.भा., भाग- गाथा ३१९ की चू.।

बृहत्कल्पभाष्य, भाग-३, गा. ३१४०; तथा नि.सू., ३.१४ को चूर्णि आचारांग,

१६८. संखडिज्जति जहिं आउणि जियाणा, २.१.२ पृ. २९८-अ-३०४

१६९. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३१४१-४२

१७०. वही, गा. ३१४३

१७१. वही, गा. ३१८४-८९; नि.भा., ३.१४७२-७७

१७२. वही, गा. ३१५०

१७३. लाट देश में इसे वर्षा ऋतु में मनाते थे, -बृहत्कल्पभाष्य, गा. २८५५

१७४. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ४८८। तुलना कीजिए महाभारत, २.४३.२२; हरिवंशपुराण, २.१७.११ आदि

१७५. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३१९२

१७६. वही, गा. ३५८७

१७७. वही, गा. ४७६९

१७८. वही, गा. ५८३८

१७९. वही, गा. ३१५६

१८०. वही, गा. ३१६८-७०

१८१. 'धर्मग्रहोऽपि वातविशेषो यः शरीरं कुब्जीकरोति,' -बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३८१६

१८२. वही, गा. ५८७०

१८३. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३९७

१८४. वही, गा. ४३८०

१८५. वही, पीठिका गा. ३७६

१८६. वही, गा. १२७७

१८७. बृहत्कल्पभाष्य, गा. १००१-१०३३

१८८. 'जंघासु कालाभं रसियं वहति' - नि. चू. १.७९८ की चू.

१८९. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३८३९-४०। महावग्ग, १.३०-८८, पृ. ७६ में उल्लेख है कि मगध में कुष्ठ, गंड (कोढ़ा), किलास (चर्मरोग), सूजन और मृगी रोग फैल रहे थे। जीवक कौमारभृत्य को लोगों की चिकित्सा करने का समय नहीं मिलता था, इसलिए रोग से पीड़ित लोग बौद्ध भिक्षु बनकर चिकित्सा कराने लगे।

१९०. वही, गा. ३८१६-१८। चर्म के उपयोग के लिये देखिये सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान, ७.१४, पृ. ४२

१९१. वही, गा. ५९८६

१९२. वही, गा. ५९८७-८८

१९३. वही, गा. ६०२८-३१, २९९५; निशीथचूर्णिपीठिका, ३४८; १०.३१९७

१९४. वही, गा. ३२५९

१९५. बृहत्कल्पभाष्य, गा. १०५१। शल्यचिकित्सा के लिये देखिये सुश्रुत, सूत्रस्थान, २६.१३, पृ. १६३

१९६. वही, गा. ६२६२। तथा देखिये चरकसंहिता, शरीरस्थान २, अध्याय ९, पृ. १०८८

१९७. वही, पीठिका गा. २८९

१९८. वही, ६०२८-३१, गा. २९९५

१९९. वही, गा. १२३५, निशीथचूर्णि ११.३७१३

२००. वही, गा. २८७३-७४

अध्याय-४
आर्थिक जीवन

कृषि

भारत सदा से एक कृषि प्रधान देश रहा है। कृषि ही लोगों के आय का मुख्य स्त्रोत थी। कृषि उत्पादन से जहाँ एक ओर लोग अपनी आवश्यक आवश्यकताएँ पूरी करते थे वहीं दूसरी ओर उन्हें विनिमय कर उन्हें बेचकर आर्थिक लाभ कमाते थे। कृषि के अतिरिक्त लोग तरह-तरह के उद्योग-धन्धे, वाणिज्य-व्यापार आदि करते थे। अहिंसा का कठोरता से पालन करने के कारण जैन समुदाय के लोग कृषि कार्य कम करते थे क्योंकि इस पेशे में हिंसा की ज्यादा संभावना रहती है। इसीलिए प्राचीन काल से ही और आज भी जैनी उद्योग और व्यापार जैसे कम हिंसा वाले पेशे अपनाये हुए हैं। लेकिन प्रस्तुत ग्रन्थ चूँकि निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के जीवन-व्यापार से सम्बन्धित है इसलिए उसमें आर्थिक जीवन से संबंधित सभी पक्षों पर चर्चा की गयी है।

कृषि योग्य भूमि को 'खेत्त' कहते थे।[१] खेत को दस प्रकार के परिग्रहों क्षेत्र-क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, संचय, मित्र-जाति तथा संयोग, यान, शयन, आसन, दासदासी तथा कुप्य-उपस्कर आदि में गिना गया है।

> खेत्तं वत्थुं धण धन्न संचओ मित्त-णाइ-संजोगो।
> जाण सयणा-ऽऽसणाणि य, दासी-दासं च कुवियं च।।[२]

खेती योग्य भूमि बनाने के लिए जंगलों को जलाकर साफ किया जाता था।[३] भूमि पर राजा का स्वामित्व था क्योंकि उसे पृथ्वी का स्वामी कहा गया है।[४] वन्य पशुओं से फसलों की रक्षा हेतु बाड़े बनाये जाते थे।[५] फसलों की सुरक्षा करने के लिए कृषक-बालिकाएँ 'टिट्टि', 'टिट्टि' चिल्लाकर जानवरों को भगाया करती थीं।[६]

कृषि उपकरण

'बृहद्कल्पसूत्रभाष्य' में हल, कुदाल और हसियाँ जैसे कृषि उपकरणों का उल्लेख प्राप्त होता है।[७] अन्न की फसल काटने पर खलिहान में धान्य तथा भूसे

को अलग करते समय बैलों द्वारा उसके मर्दन तथा गाहन करने में सहायता ली जाती थी।[८] धान्य फटकने के कार्य को सूप्पनिष्फाव कहा जाता था। स्वच्छ करने के पश्चात् अनाज को सम्बाहपल्लग,[९] मुख[१०] आदि संग्रहालयों में रखा जाता था। इस काल की एक प्रमुख फसल गन्ना या ईख थी, जिसको पेरकर गुड़ अथवा शक्कर बनाने के लिए कृषक एक प्रकार के यन्त्र का प्रयोग करते थे, जिसे 'कोल्हू' कहा जाता था।[११] उसमें यंत्रपीडन नामक एक उपकरण यंत्र का नाम भी दिया है, जिसके द्वारा गन्ना, सरसों आदि पेरे जाते थे और जिसकी गणना १५ कर्मदानों में की गई है।[१२] 'बृहद्कल्पभाष्य' में हल की तीन कोटियाँ बतायी गयी हैं- हल, कुलिय और दन्तालक।[१३] इनमें कुलिय सम्भवतः घास काटने वाला एक काष्ठ औजार था, जिसकी लम्बाई लगभग दो हाथ थी और जिसके सिरे पर लोहे की धारदार कील लगी होती थी, और इसका प्रयोग सौराष्ट्र में किया जाता था।[१४]

सिंचाई

उस समय कृषि अधिकांशतः वर्षा पर ही निर्भर थी। सिंचाई के कुछ कृत्रिम साधनों का भी उल्लेख मिलता है। जलवायु तथा प्राकृतिक स्थिति के अनुसार अलग-अलग स्थलों पर सिंचाई के अलग-अलग साधन थे। सिंचाई के प्राकृतिक एवं कृत्रिम इन दो जल स्त्रोतों के आधार पर खेत भी दो भागों में बटे हुए थे- (१) केतु और सेतु।[१५] सेतु क्षेत्रों को रहट आदि कृत्रिम जल साधनों से सींचा जाता था, जबकि केतु में वर्षा जल से ही पर्याप्त धान्योत्पत्ति सम्भव थी।[१६]

'बृहत्कल्पभाष्य'[१७] में उल्लेख है कि लाट देश में वर्षा से सिन्धु देश में नदी से, द्रविण देश में तालाब से, उत्तरापथ में कुओं से, डिम्भरेल में महिरावण की बाढ़ से खेतों की सिंचाई की जाती थी। काननद्वीप में नावों पर धान रोपे जाते थे। मथुरा में खेती नहीं होती थी, वहां वाणिज्य व्यापार की ही प्रधानता थी। कहीं किसान लोग नाली (सारणी) के द्वारा बारी-बारी से अपने खोतों को सींचते थे। वे छिपकर भी अपने खेतों में पानी दे लेते थै।[१८] जहाँ इनमें से कोई भी प्राकृतिक साधन उपलब्ध नहीं होते थे, वहाँ तालाब आदि के कृत्रिम जल से सिंचाई की जाती थी।[१९]

कृषि उत्पादन

'बृहदकल्पभाष्य' में सत्रह प्रकार के धान्यों का उल्लेख हुआ है- चावल, यव, मसूर, गेहूँ, मूँग, माष, तिल, चना, कंग, प्रियंगु, कोद्रव, मोठ, शालि, अरहर, मटर, कुलत्थ तथा शण।

घडिएयरं खलु धणं, सणसत्तरसा बिया भवे धन्नं।
तण-कट्ठ-तेल्ल-घय-मधु-वत्थाई संचओ बहुहा ।।[२०]

चावल

चावल की शालि (कलमधान), ब्रीहि (रक्तशालि), तिल और कुलत्थ इन प्रजातियों का उल्लेख मिलता है।[२१] अन्यत्र इनके कलमशालि, रक्तशालि तथा महाशालिनाम भी मिलते हैं।[२२] कलमशालि[२३] पूर्वीय प्रान्तों में पैदा होता था। इसकी बलि देवी-देवताओं को दी जाती थी।[२४] संवाध (अथवा संवाह) भी एक प्रकार का कोठार ही होता था जिसे पर्वत के विषम प्रदेशों में बनाया जाता था। किसान अपनी फसल को सुरक्षित रखने के लिये इन्हें ढोकर ले जाते थे।[२५]

घर के बाहर जंगलों में धान्य को सुरक्षित रखने के लिये फूस और पत्तियों के बुंगे (बलय) बनाये जाते थे और इसके अन्दर की जमीन को गोबर से लीपा जाता था।[२६] अनाज के गोलाकार ढेर को पूंज और लम्बाकार ढेर को राशि कहते थे।[२७] दीवाल (भित्ति) और कुड्य से लगाकर ढेर बनाये जाते थे; इन्हें राख से अंकित कर, ऊपर से गोबर से लीप दिया जाता था, अथवा इन्हें अपेक्षित जगह में रखकर बाँस और फूँस से ढंक दिया जाता था।[२८] वर्षा ऋतु में अनाज को मिट्टी अथवा बाँस (पल्ल) के बने हुए कोठों (कोट्ठ) बांस के खम्भों (मंचों) पर बने हुए कोठों अथवा घर के ऊपर बने हुए कोठों (माला) में रखा जाता था; द्वार पर लगाये जाने वाले ढक्कन को गोबर से और फिर उसे चारों तरफ से मिट्टी से पोत दिया जाता था। तत्पश्चात् उसे रेखाओं से चिह्नित कर और मिट्टी की मोहर लगाकर छोड़ दिया जाता था।[२९] इसके सिवाय कुम्भी, करभी का भी उल्लेख मिलता है। चावल के छाँटने का उल्लेख 'बृहत्कल्पभाष्य' में नहीं मिलता है। समसामयिक अन्य जैन ग्रन्थों के अनुसार चावलों को ओखली में छांटा जाता था, और उनको मलकर साफ कर लिया जाता था।[३०]

गन्ना

चावल की भाँति गन्ना (उच्छू) भी यहाँ की मुख्य फसल थी। गन्ना कोल्हुओं (महाजन्त; कोल्लुक)[३१] में पेरा जाता था। इन स्थानों को यंत्रशाला (जंतसाला)[३२] कहा गया है। ईख के खेत को सियार खा जाते थे। उनसे बचने के लिये खेत का मालिक खेत के चारों ओर खाई खुदवा दिया करता था।[३३] पशुओं और राहगीरों से रक्षा करने के लिये खेत के चारों ओर बाड़ लगा दी जाती थी।[३४]

कपास

सूत की फसलों में कपास (कप्पास; फलही) सबसे मुख्य थी। अन्य फसलों में रेशम, ऊर्णा (ऊन), क्षौम और सन का उल्लेख मिलता है।[३५] शील अथवा शाल्मलि के वृक्षों से भी रेशमी सूत तैयार किया जाता था।

विविध मसाले

मुख्य रूप से वर्णित मसालों[३६] में हल्दी (हरिद्रा), लौंग, मिर्च (मरिया), अदरक (शृंगवेर), लहसुन, मिर्चा, (पिप्पली), हींग, जीरा, कुपुम्भरी, पिण्डहरिद्रा एवं सरसों उल्लेखनीय हैं।

पशुपालन

प्राचीन भारत में पशु बहुत महत्त्वपूर्ण धन माना जाता था तथा गाय, बैल, भैंस और भेड़ राजा की बहुमूल्य सम्पत्ति गिनी जाती थी। पशुओं के समूह को व्रज (वय), गोकुल और संगिल्ल[३७] कहा गया है। एक व्रज में दस हजार गायें रहती थीं। बैलों को हलों में जोतकर उनसे खेती की जाती थी और रहट में जोतकर खेतों की सिंचाई के लिये कुओं से पानी निकाला जाता।[३८] उन्हें माल से भरी गाड़ी में जोतते, चाबुक से हाँकते, दाँतों से पूँछ काट लेते और आरी से मारते थे। ऐसी हालत में कभी अड़ियल बैल जुएँ को छोड़ अलग हो जाते थे जिससे गाड़ी का माल नीचे गिर पड़ता था।[३९]

गोपालन पर विशेष ध्यान रखा जाता था। आभीर (अहीर), गाय-भैंसों को पालते-पोसते थे। इनके गाँव अलग होते थे।[४०] ग्वाले ध्वजा लेकर गायों के आगे चलते और गायें उनका अनुशरण करतीं।[४१] दूध से दही और नवनीत बनाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[४२] गाय अपने बछड़े से बहुत प्रेम करती और व्याघ्र आदि से संत्रस्त होने पर भी अपने बछड़े को छोड़कर नहीं भागती थी।[४३] 'निशीथचूर्णि' से ज्ञात होता है कि उस समय हाथियों का नल (एक तृण), और इक्षु, भैसों को कमल पत्तियां, घोड़ों को हरिमन्थ (काला चना), मूंग आदि तथा गायों को अर्जुन आदि खाने के लिये दिये जाते।[४४] गाय, बैल और बछड़े गोशालाओं (गोमंडप) में रखे जाते थे फिर भी चोर (कूटग्राह) गोशालाओं में से रात के समय चुपचाप पशुओं की चोरी कर लेते थे।[४५] 'निशीथचूर्णि' में पशुओं की चिकित्सा के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं।[४६] भेड़ के ऊन से और ऊँट के बालों से जैन साधुओं के रजोहरण तथा कम्बल बनाये जाते थे।[४७]

वाणिज्य और व्यापार

जैन धर्म को मानने वाले ज्यादातर लोग व्यापारी थे और आज भी हैं, इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ में एतद्विषयक विपुल सामग्री प्राप्त होती है। ये प्रसंग श्रमण-श्रमणियों के संदर्भ में आये हैं जो वर्षावास के बाद आठ महीने धर्मयात्रा करते हैं। धर्मयात्रा के दौरान उनका संपर्क अनेक व्यापारिक संगठनों, सार्थवाहों, निगमों आदि से होता था, अतः भाष्यकार ने इनकी विस्तृत चर्चा की है।

'बृहत्कल्पभाष्य' में व्यापारियों यानि सार्थों की वस्तियों को निवेश कहा गया है।[४८] उधार-पुरजे देने वाले व्यापारियों की बस्ती को 'निगम' कहा जाता था।[४९] निगम दो प्रकार के होते थे- सांग्रहिक और असांग्रहिक। सांग्रहिक निगम में समान गिरवी रखने और ऋण देने का काम होता था और असांग्रहिक निगम में ऋण देने के अतिरिक्त अन्य व्यापारिक काम भी होते थे।[५०] जलपट्टन तो समुद्री बन्दरगाह होता था जहाँ विदेशी माल उतारा और देशी माल लादा जाता था जब कि स्थलपट्टन उन बाजारों को कहते थे जहाँ बैलगाड़ियों आदि से माल उतरता था।[५१] आनन्दपुर और दसण्णपुर स्थलपट्टन के दो उदाहरण गिनाये गये हैं।[५२] निशीथचूर्णि में पुरिमा और दिव को जलपट्टन कहा गया है।[५३] द्रोणमुख उन बाजारों को कहते थे जहाँ जल और थल दोनों मार्गों से माल उतरता था।[५४] भृगुकच्छ और ताम्रलिप्ति इसी प्रकार के दो नगर थे।[५५] पुटभेदन ऐसे बाजार थे जहाँ चारों ओर से माल आते थे। शाकल इसी तरह का पुटभेदन था।[५६] जहाँ वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता था उन्हें 'अन्तरापण' कहा जाता था।[५७] इस प्रकार की दुकानों को 'आपणगृह' कहा जाता था।[५८]

सार्थवाह

जो बाहरी मंडियों के साथ व्यापार करने के लिए एक साथ टाँडा लादकर चलते थे वे 'सार्थ' कहलाते थे और उनका नेता ज्येष्ठ व्यापारी सार्थवाह कहलाता था।[५९] किसी-किसी सार्थ में दो सार्थवाह होते थे ऐसी स्थिति में व्यापारियों को दोनों सार्थवाहों की आज्ञा मानना पड़ती थी।[६०] सार्थों में बालक, वृद्ध, दुर्बल, रोगी आदि की भी सवारी होती थी।[६१] 'बृहत्कल्पभाष्य' से पता चलता है कि जो सार्थ धन देने पर भी सवारी को सुविधा प्रदान नहीं करता था वह अच्छा नहीं माना जाता था।[६२] कभी-कभी सार्थ घने जंगलों में दिग्भ्रमित हो जाते थे। ऐसे समय में 'वनदेवता' का आह्वान करके उनसे मार्ग पूछा जाता था।[६३] कभी-कभी मार्ग की कठिनाई के कारण एक-दूसरे की सहायता के उद्देश्य से दो सार्थवाह मिलकर साथ में चलते थे।[६४]

व्यापारिक मार्ग घने जंगलों से होकर निकलते थे जिससे चोर, डाकुओं का भय सदैव बना रहता था। जिस सार्थ में बहुमूल्य वस्तुएँ होती थीं उसके लुटने का भय और भी बढ़ जाता था। ऐसे सार्थ में साधुओं के जाने का निषेध था।[६५] बृहत्कल्पभाष्य में ऐसे वणिक् का उल्लेख हुआ है जिसने पागल का भेष बनाकर अपने रत्नों की रक्षा की थी।[६६] जंगली जानवरों और चोर डाकुओं से सुरक्षा के लिए सार्थ के लोग रात में अपने चतुर्दिक घेरा-सा बना लेते थे और आग भी जला लेते थे। घेरे का प्रबंध न होने पर साधुओं को यह अनुमति थी कि कंटीली झाड़ियों का बाड़ा स्वयं तैयार कर लें। वे चोरों को डराने के लिये अपनी निडरता और वीरता की डींगे मारते और रात भर जागते रहते थे जिससे चोर उनकी बातें सुनकर भाग जायें लेकिन सचमुच ही चोर-डाकू आ जाते तो सार्थ छिन्न-भिन्न हो जाते थे।[६७] जंगली पशुओं अथवा डाकुओं द्वारा सार्थ के नष्ट कर दिये जाने पर अगर साधु विलग हो जाते थे तो सिवाय देवताओं की प्रार्थना के उनके पास कोई उपाय नहीं रह जाता था।[६८] ज्ञाताधर्मकथा में भी सार्थवाहों द्वारा सार्थ को लेकर देश-विदेश में व्यापार के लिए जाने का प्रमाण मिलता है। उसमें वर्णित धन्य सार्थवाह ने व्यापार यात्रा में जाने से पूर्व अपने सभी संबन्धियों को विपुल मात्रा में असन, पान, खाद्य और स्वाद्य चार प्रकार का भोजन कराया था। उसने सार्थ में सम्मिलित होने के लिए लोगों को आमंत्रित करते हुए घोषणा की थी कि सार्थ में चलने वाले प्रत्येक व्यक्ति को भोजन, जलपात्र, जूते, औषधि तथा अन्य सामग्रियाँ उपलब्ध करायी जायेंगी।[६९] शुभ नक्षत्र, तिथि एवं राजा की आज्ञा प्राप्तकर सार्थ की घोषणा की जाती थी। सार्थवाह के ऊपर पूरे सार्थ में सुरक्षा का दायित्व था। 'ज्ञाताधर्मकथा' के अनुसार हस्ति शीर्ष नगर के व्यापारी (पोतवणिक) कलिका द्वीप, जजीवा तक अर्थात् पूर्वी अफ्रीका के जंजीवार तक जाया करते थे।[७०] 'वसुदेवहिण्डी' से ज्ञात होता है कि उस समय व्यापारी चीन, रत्नद्वीप, स्वर्णद्वीप, सुमात्रा, जावाद्वीप आदि देशों तक यात्रा करते थे।[७१]

'बृहत्कल्पसूत्रभाष्य' में सार्थ के पाँच प्रकारों का उल्लेख मिलता है- (१) मंडीसार्थ- माल ढोने वाले सार्थ; (२) बहलिका- इसमें ऊँट, खच्चर, बैल इत्यादि होते थे; (३) भारवह- इसमें लोग स्वयं अपना माल ढोते थे; (४) औदारिक- यह उन मजदूरों का सार्थ होता था जो जीविका के लिए एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहते थे; (५) कर्पाटिक- इसमें अधिकतर भिक्षु और साधु होते थे।

राग-छोसविमुक्को, सत्थं पडिलेहे सो उ पंचविहो ।
भंडी बहिलग भरवह, ओदरिया कप्पडिय सत्थो ।।[७२]

सार्थ द्वारा ले जाने वाले माल को विधान कहते थे। माल चार तरह का होता था- (१) गणिम, जिसे गिना जा सके जैसे- हर्रे, सुपारी आदि; (२) धरिम जिसे तौला जा सके जैसे शक्कर आदि; (३) मेय, जिसे नापा जा सके जैसे घी आदि; (४) परिच्छेद्य, जिसे केवल आँखों से जाँच किया जा सके जैसे कपड़े, जवाहरात, मोती इत्यादि।[७३]

सार्थ के साथ अनुरंगा (एक तरह की गाड़ी), डोली (यान), घोड़े, भैंसे, हाथी और बैल होते थे, जिनपर चलने में असमर्थ बीमार, घायल, बच्चे, बूढ़े और पैदल चल सकते थे। कोई-कोई सार्थवाह इसके लिए कुछ किराया भी वसूल करते थे। लेकिन किराया देने पर भी जो सार्थवाह बच्चों और बूढ़ों को सवारियों पर नहीं चढ़ने देते थे, वे क्रूर समझे जाते थे। ऐसे सार्थवाह के साथ यात्रा करने की मनाही थी। जिस सार्थ के साथ दंतिक (मोदक, मण्डक, अशोकवर्ती- जैसी मिठाइयाँ) गेहूँ, तिल, गुड़ और घी होता था उसे अच्छा समझा जाता था क्योंकि आपत्तिकाल में ऐसे सार्थवाह पूरे सार्थ और साधुओं को भोजन दे सकता था।[७४]

सार्थों को आकस्मिक विपत्तियों का, जैसे घनघोर वर्षा, बाढ़, डाकुओं तथा जंगली हाथियों द्वारा मार्ग निरोध, राज्यक्षोभ तथा ऐसी ही दूसरी विपत्तियों का सामना करने के लिये तैयार रहना पड़ता था। ऐसे समय सार्थ के साथ खाने-पीने का सामान होने पर वह विपत्ति के निराकरण होने तक एक जगह ठहर सकता था।[७५] सार्थ अधिकतर कीमती सामान ले आया और ले जाया करता था। इनमें केसर, अगर, चोया, कस्तूरी, ईंगुर, शंख और नमक मुख्य थे। ऐसे सार्थों के साथ व्यापारियों और खास करके साधुओं का चलना ठीक नहीं समझा जाता था, क्योंकि इनमें लुटने का बराबर भय बना रहता था।[७६] रास्ते की कठिनाइयों से बचने के लिए छोटे-छोटे सार्थ बड़े सार्थों के साथ मिलकर आगे बढ़ने के लिए रुके रहते थे। कभी-कभी दो सार्थवाह मिलकर तय करते थे कि जंगल में अथवा नदी या दुर्ग पड़ने पर वे रात-भर सबेरे साथ-साथ नदी पार करेंगे।[७७]

सार्थवाह यात्रियों के आराम का ध्यान करके ऐसा प्रबन्ध करते थे कि उन्हें एक दिन में बहुत न चलना पड़े। सार्थ एक दिन में उतनी ही दूरी तय करता था, जितनी बच्चे और बूढ़े आराम से तय कर सकते थे। सूर्योदय से पहले ही जो सार्थ चल पड़ता था उसे कालतः परिशुद्ध सार्थ कहते थे। भाव से परिशुद्ध

सार्थ में बिना किसी भेदभाव के सब मतों के साधुओं को भोजन मिलता था।[७८] एक अच्छा सार्थ बिना राजमार्ग को छोड़े हुए धीमी गति से आगे बढ़ता था। रास्ते में भोजन के समय वह ठहर जाता था और गन्तव्यस्थान पर पहुँचकर पड़ाव डाल देता था।[७९] वह इस बात के लिए भी सदा प्रयत्नशील रहता था कि वह उसी सड़क को पकड़े जो गाँवों और चारागाहों से होकर गुजरती हो। वह पड़ाव भी ऐसी जगह डालने का प्रयत्न करता था, जहाँ साधुओं को आसानी से भिक्षा मिल सके।[८०]

सार्थ के साथ यात्रा करने वालों को एक अथवा दो सार्थवाहों की आज्ञा माननी पड़ती थी। उन दोनों सार्थवाहों में एक से भी किसी प्रकार अनबन होने पर यात्रियों का सार्थ के साथ यात्रा करना उचित नहीं माना जाता था। यात्रियों के लिए भी यह आवश्यक था कि वे उन शकुनों और अपशकुनों में विश्वास करें, जिन्हें सारा सार्थ मानता हो। सार्थवाह द्वारा नियुक्त चालक की आज्ञा मानना भी यात्रियों के लिए आवश्यक था।[८१]

सार्थों के साथ साधुओं की यात्रा बहुत सुखकर नहीं होती थी। कभी-कभी उनके भिक्षाटन पर निकल जाने पर सार्थ आगे बढ़ जाता था और उन्हें भूखे-प्यासे इधर-उधर भटकना पड़ता था।[८२] सार्थ के दूसरे सदस्य तो कहीं भी ठहर सकते थे, पर जैन साधुओं को इस सम्बन्ध में कुछ नियमों का पालन करना पड़ता था। यात्रा की कठिनाइयों को देखते हुए इन नियमों का पालन करना बड़ा कठिन था। सार्थ के साथ सन्ध्या समय, गहरे जंगल से निकलकर जैन साधु अपने लिए विहित स्थान खोजने में जुट जाते थे और ठीक जगह न मिलने पर कुम्हारों की कर्मशाला अथवा दुकानों में पड़े रहते थे।[८३]

'बृहत्कल्पभाष्य' में भिखमंगों के सार्थ का भी उल्लेख है। खाना न मिलने पर ये भिखमंगे कन्द, मूल, फल आदि खाकर अपना गुजारा कर लेते थे परन्तु जैन साधुओं के लिए ये सब अभक्ष्य होने से भिखमंगे उन्हें डराते भी थे। वे भिक्षुओं को एक लम्बी रस्सी दिखाकर कहते थे कि अगर तुम कन्द, मूल, फल नहीं खाओगे तो हम तुम्हें फाँसी पर लटकाकर सुखपूर्वक भोजन करेंगे।[८४]

व्यापारिक मार्ग

स्थल मार्ग

'बृहत्कल्पभाष्य' में व्यापारिक मार्गों का भी उल्लेख हुआ है। व्यापारिक मार्गों में चोर-डाकुओं का आतंक रहता था। अतएव यात्रियों की सुरक्षा के लिए

राज्य की ओर से गौल्मिक जैसे राजपुरुष नियुक्त किये जाते थे।[८५] कभी-कभी मार्गों की रक्षा करने वाले राज्याधिकारी साधुओं को भी चोर समझकर पकड़ लेते थे।[८६] एक राज्य से दूसरे राज्य में प्रवेश करने के लिये आज्ञा-पत्र लेने पड़ते थे।[८७] विशेषरूप से रात में यात्रा करने वालों को अपना आज्ञा-पत्र दिखाना पड़ता था। आज्ञापत्ररहित पुरुष चोर समझकर पकड़ लिया जाता था।[८८] बोझा ढोने वाली गाड़ी को 'शकट' या 'सग्गड़' कहा जाता था। ऐसी गाड़ियों में बैल जोते जाते थे।[८९] 'बृहत्कल्पभाष्य' से ज्ञात होता है कि आभीर शकटों में घी के घड़े रखकर नगरों में बेचने के लिये जाते थे।[९०]

जैन साहित्य में जैन साधुओं के विहार योग्य २५½ आर्य देशों का उल्लेख हुआ है। मगध, अंग, बंग, कलिंग, कोशल, सौराष्ट्र, कुरु, कुशावर्त, पंचाल,जांगल देश, विदेह, वत्स, सडिब्बा, मलया, वच्छ (मत्स्य), अच्छा, दसन्ना, चेदि, सिन्धु, सौवीर, शूरसेन, भंग, कुणाल, लाढ, कैकयार्थ। ये देश जल और स्थल मार्गों द्वारा जुड़े हुए थे।[९१]

प्राचीन काल के अनेक गाँव और नगर सड़कों से जुड़े होते थे। जहाँ तीन ओर से सड़कें आकर मिलती थीं उसे 'शृगादक' (तिराहा) जहाँ चार ओर से सड़कें आकर मिलती थीं उसे 'प्रवह' कहा जाता था।[९२]

साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत के समीपस्थ स्थानों तक आवागमन के लिये पर्याप्त सुविधा थी, किन्तु दूरस्थ स्थानों को जाने वाले मार्ग सुरक्षित नहीं थे। देश का अधिकांश भाग बनप्रदेश था और उन्हीं से होकर सड़कें गुजरती थीं। सड़कें कच्ची और धूल-धूसरित थीं जिन पर चलना अत्यन्त कठिन था।[९३] नदी नालों पर पुल प्रायः नहीं होते थे, केवल नावों से ही नदी पार करनी पड़ती थी।[९४]

जैन साहित्य से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण भारत जल और स्थल मार्गों से जुड़ा हुआ था। इनमें से कुछ मार्ग तो मध्य एशिया और पश्चिम एशिया तक जाते थे।[९५]

पाटलिपुत्र से काबुल-कन्दहार जाने वाले मार्ग को उत्तरापथ कहा जाता था। पाटलिपुत्र के राजा मुरुण्ड का दूत इसी मार्ग से पुरुषपुर (पेशावर) गया था।[९६] मिथिला के यात्री भी पुरुषपुर तक जाते थे।[९७] 'वसुदेवहिण्डी' से सूचना मिलती है कि कौशाम्बी से उज्जैनी जाने वाला मार्ग बड़ा भयानक था, क्योंकि इस मार्ग में पड़ने वाले घने जंगल होते थे जहाँ दृष्टिविषसर्प, क्रूर बाघ, जंगली

हाथियों और चोरों का आतंक था।[९८] 'वसुदेवहिण्डी' से ज्ञात होता है कि स्थलमार्ग से यात्री चीन, तिब्बत, ईरान, और अरब देशों तक जाते थे। चारुदत्त अपने मित्र रुद्रदत्त के साथ नदी के संगम के उत्तरपूर्व दिशा में हूण, खस और चीन देश गया था।[९९]

जलमार्ग

व्यापारिक दृष्टि से जल मार्गों का बड़ा महत्त्व था। देश की नदियाँ प्रमुख व्यापारिक नगरों को जोड़ती थीं। उत्तराध्ययन से ज्ञात होता है कि चम्पा से एक जलमार्ग पिहुंड तक जाता था।[१००] 'वसुदेवहिण्डी' से ज्ञात होता है कि चारुदत्त समुद्री मार्ग से चीन गया था और लौटते हुए स्वर्णभूमि, कमलपुर, यवनद्वीप, सिंहलद्वीप और बब्बरयवण होता हुआ सौराष्ट्र पहुँचा था।[१०१] लेकिन 'बृहत्कल्पभाष्य' में समुद्र यात्रा के संबंध में कोई जानकारी नहीं मिलती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि कठोर आचार-संहिता के कारण जैन साधु समुद्र यात्रा नहीं करते थे। लेकिन नदियों से व्यापार अवश्य होता था। 'बृहत्कल्पभाष्य' में गंगा, यमुना, सरयू, कोशिका, मही आदि महानदियों को तथा ऐरावती आदि कम गहरी नदियों को पार करने का उल्लेख है।[१०२] नदी पार करने के लिए संक्रम, स्थल और नोस्थल इस प्रकार तीन तरह के मार्ग भी बताये गये हैं।[१०३]

नदी और समुद्र के व्यापारी

नदियों में नावों द्वारा माल ढोया जाता था। नदी तट पर उतरने के लिए स्थान बने हुए थे। नावों को अगटिट्ठाय अन्तरंडकगोलिया (जोंगी), कोचवीरग (जलयान)[१०४] आदि नामों से सूचित किया गया है। 'निशीथभाष्य' में चार प्रकार की नावों का उल्लेख है– 'अनुलोमगामिनी,' 'प्रतिलोमगामिनी,' 'तिरिच्छसंतारिणी,' (एक किनारे से दूसरे किनारे पर सरल रूप में जाने वाली) और 'समुद्रगामिनी'। समुद्रगामिनी नाव से लोग तेयालगपट्टण (आधुनिक वेरावल) से द्वारका की यात्रा किया करते थे।[१०५]

यान-वाहन

व्यापार और उद्योग-धन्धों के विकास के लिए शीघ्रगामी और सस्ते आवागमन के साधनों का होना परम आवश्यक है। जैनसूत्रों में (शृंगाटक (सिंघाटक), त्रि (तिग), चतुष्क (चउक्क; चौक), चत्वर (चच्चर), महापथ और राजमार्ग का उल्लेख है जिससे पता लगता है कि उन दिनों भी मार्ग की

व्यवस्था थी।[१०६] उत्तराध्ययन टीका में हुतवह नाम की रथ्या का उल्लेख है। यह रथ्या गर्मी के दिनों में इतनी अधिक तपती थी कि कोई वहाँ से जाने का साहस नहीं करता था। फिर भी मार्गों की दशा सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होती। ये मार्ग जंगलों, रेगिस्तानों और पहाड़ियों में से होकर जाते थे, इसलिए यहाँ घोर वर्षा, चोर-लुटेरे, दुष्ट हाथी, शेर आदि जंगली जानवर, राज्य-अवरोध, अग्नि, राक्षस, गड्ढे, सूखा, दुष्काल, जहरीले वृक्ष आदि का भय बना रहता था।[१०७]

'बृहत्कल्पभाष्य' में 'दगण' नामक यान का उल्लेख है।[१०८] गाड़ी या छकड़ों (सगड़ी सागड़) को यातायात के उपयोग में लिया जाता था। गाड़ियों, घोड़ों, नावों और जहाजों द्वारा माल एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता था।[१०९]

अन्तर्देशीय व्यापार

'बृहत्कल्पभाष्य'[११०] से पता चलता है कि देश के अन्दर व्यापार स्थल और जल दोनों मार्गों से होते थे। आनन्दपुर (वडनगर, उत्तरगुजरात) और दशार्णपुर (एरछा जिला झांसी) ये दो स्थलपट्टण थे जहाँ स्थलमार्ग से माल ले जाया जाता था।[१११] भृगुकच्छ (भड़ौच) और ताम्रलिप्त (तामलुक) द्रोणमुख थे जहाँ जल और स्थल दोनों मार्गों से व्यापार होता था।[११२] जहाँ उक्त दोनों ही प्रकार के माल के आने-जाने की सुविधा न हो, उसे कब्बड़ कहा गया है। वर्षा काल में लोग व्यापार के लिए नहीं जाते थे।[११३]

'मथुरा' उत्तरापथ का महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र था जहाँ लोग व्यापार से ही जीवन-निर्वाह करते थे, खेतीबारी यहाँ नहीं होती थी।[११४] यहाँ के लोग व्यापार के लिए दक्षिण मथुरा (मदुरा) तक आते जाते थे।[११५]

'शर्पारक' (सोप्पारय सोपारा, जिला ठाणा) व्यापार का दूसरा केन्द्र था। यहाँ बहुत से व्यापारियों (नेगम) के रहने का उल्लेख है।[११६] भृगुकच्छ और सुवर्णभूमि (वर्मा) के साथ इनका व्यापार चलता था।[११७]

'उज्जैन' व्यापार का दूसरा बड़ा केन्द्र था। धनवसु यहाँ का सुप्रसिद्ध व्यापारी था, जिसने अपने सार्थ के साथ व्यापार के लिए प्रस्थान किया था। उज्जैनी के व्यापारी पारसकुल (ईरान) भी आते जाते थे। राजा प्रद्योत के जमाने में उज्जैनी में आठ बड़ी-बड़ी दुकानें (कुत्रिकापण, पालि साहित्य में अन्तरापण) थीं जहाँ प्रत्येक वस्तु मोल मिलती थी।[११८] चीन से विविध प्रकार के वस्त्र आते थे। आपणगृह के चारों ओर दुकानें बनी रहती थीं।[११९] अन्तरापण के एक ओर या दोनों ओर बाजार की बीथियाँ रहती थीं।[१२०]

श्रेणियाँ

'बृहत्कल्पभाष्य' के अनुसार उन दिनों व्यापार के मार्ग सुरक्षित नहीं थे, रास्ते में चोर-डाकुओं और जंगली जानवरों आदि का भय बना रहता था, इसलिए व्यापारी लोग एक साथ मिलकर किसी सार्थवाह को अपना नेता बनाकर परदेश यात्रा के लिए निकलते थे। उसे श्रेणी-प्रश्रेणियों का मुखिया माना जाता था।[१२१] शिल्पकारों की श्रेणियों की भाँति व्यापारियों की भी श्रेणियाँ थीं जिनमें नदी या समुद्र से यात्रा करने वाले व्यापारी सार्थवाह शामिल होते थे। कितने ही सार्थों के उल्लेख मिलते हैं जो विविध माल-असबाब के साथ एक देश से दूसरे देश में आते-जाते रहते थे। श्रेणियों की गणना प्रमुख राजपुरुषों में की गयी है, धनुर्विद्या और शासन में वह कुशल होता था।[१२२]

आयात-निर्यात

'बृहत्कल्पभाष्य' में आयात-निर्यात से सम्बन्धित विपुल सामग्री मिलती है। पूर्व से आने वाला वस्त्र लाट देश में आकर ऊँची कीमत पर बिकता था।[१२३] चीन[१२४] से विविध प्रकार के वस्त्र आते थे। महाराष्ट्र में ऊनी कम्बल अधिक कीमत पर बिकते थे।[१२५] नेपाल, ताम्रलिप्त, सिन्धु और सौवीर के कपड़े अच्छे माने जाते थे।[१२६]

मूल्य निर्धारण

आज की भाँति मांग और पूर्ति के अनुसार वस्तुओं के मूल्य निश्चित किये जाते थे। जिस वस्तु की मांग अधिक हो और पूर्ति कम हो पाती थी उस वस्तु का मूल्य बढ़ जाता था। उत्सवों और पर्वों पर मांग के अनुसार वस्तुओं के उपलब्ध न हो पाने से उनके मूल्य बढ़ जाते थे।[१२७] 'बृहत्कल्पभाष्य' से ज्ञात होता है कि सामूहिक भोज एवं मेला के अवसर पर दूध का मूल्य बढ़ जाता था।[१२८] इसी प्रकार इन्द्र महोत्सव के समय फूल-मालाओं की बड़ी मांग होती थी इस कारण उन दिनों उनका मूल्य बढ़ जाता था। 'बृहत्कल्पभाष्य' में एक माली का उल्लेख हुआ है जिसमें इन्द्रमहोत्सव के कुछ दिन पहले ही अपनी फुलवारी से फूल चुनना बन्द कर दिया था ताकि वह उत्सव वाले दिन अधिकाधिक फूल ऊँचे मूल्य पर बेचकर अधिक लाभ अर्जित कर सके।[१२९] सुलभता और दुर्लभता के आधार पर किसी वस्तु के मूल्यों का निर्धारण किया जाता था।[१३०] वस्तुओं के मूल्य वृद्धि को रोकने के लिये उनका निर्यात बन्द कर दिया जाता था।

'बृहत्कल्पभाष्य' से ज्ञात होता है कि दन्तपुर के राजा ने अपने राज्य से हाथी दाँत के निर्यात का निषेध कर दिया था।[१३१] 'बृहत्कल्पभाष्य' से पता चलता है कि कुत्रिकापण में एक निष्क मूल्य वाले वर्तन भी बेचे जाते थे।[१३२]

उद्योग-धन्धे

'बृहत्कल्पभाष्य' में कृषि के अतिरिक्त विभिन्न उद्योग-धन्धों का वर्णन मिलता है। ये उद्योग-धन्धे समाज के लोगों की आजीविका के साधन थे। भिन्न-भिन्न धन्धों में संलग्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न नाम दिया गया है जैसे- कुम्भकार, चित्रकार, चर्मकार, मद्यविक्रेता, स्वर्णकार आदि। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के निर्माण संबंधी उद्योग भी थे यथा धातु उद्योग, तेल उद्योग, वस्त्र उद्योग, काष्ठ उद्योग आदि।

कताई और बुनाई

कृषि के पश्चात् कताई-बुनाई लोगों का महत्त्वपूर्ण धन्धा था। पाँच शिल्पकारों में कुम्भकार, चित्रकार, लुहार (कर्मकार) और नाई (काश्यप) के साथ वस्त्रकार भी गिनाये गये हैं। इसके अलावा कपड़ धोने और रंगने का भी काम किया जाता था। अट्ठारह श्रेणियों में धोबियों की गणना की गयी है। मैले कपड़ों को पत्थर पर पीटा जाता था फिर उन्हें घिसा जाता था। जब कपड़े धुलकर साफ हो जाते तो उन्हें धूप देकर सुगन्धित किया जाता था।[१३३] तौलिये आदि वस्त्रों को कषायरंग से रंगा जाता। रंगे हुए वस्त्र गर्म मौसम में पहने जाते थे।[१३४]

वस्त्र निर्माण के केन्द्र

वस्त्र निर्माण हेतु कुछ स्थल बहुत प्रसिद्ध थे। 'बृहत्कल्पभाष्य' में उत्तरापथ और दक्षिणापथ के व्यापारियों द्वारा परस्पर वस्त्रों के विनिमय का वर्णन मिलता है।[१३५]

सूती वस्त्र

उस समय वस्त्र निर्माण के लिये कपास का सबसे अधिक उपयोग किया जाता था। सूत को फैलाकर ताना-बाना किया जाता था, फिर 'कडजोगी'[१३६] (वस्त्र बुनने का एक उपकरण) से 'तन्तुवायशाला' में वस्त्र तैयार किया जाता था। 'बृहत्कल्पभाष्य' से स्त्रियों द्वारा सूत कातने का प्रमाण मिलता है।[१३७] बृहत्कल्पभाष्य और निशीथचूर्णि के अतिरिक्त वस्त्रों का पर्याप्त उल्लेख स्थानांगवृत्ति में भी मिलता

है।[१३८] सभाओं में शुक्ल वस्त्रों को धारण करके जाना शुभ माना जाता था।[१३९] 'बृहत्कल्पभाष्य' में एक ऐसी वृद्धा का उल्लेख आया है जो मोटा सूत कातती थी।[१४०]

काष्ठ उद्योग

काष्ठ के दीपक बनाये जाते थे, जो कई प्रकार (अवलम्बन, उत्कम्पन और पंजर) के होते थे। इन दीपकों का उपयोग मन्दिरों तथा चैत्यों में होता था।[१४१] प्राचीनकाल में काष्ठ का बड़ा महत्त्व था। वनों से कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में मिल जाता था। जंगलों से लकड़ी आदि काटने के काम को 'वनकम्म' कहा जाता था।[१४२] प्रातः होते ही रथकार गाड़ियाँ लेकर जंगलों में लकड़ी काटने के लिये चल देते थे।[१४३] देवालयों के लिए लकड़ी की मूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं। कई बार जलते हुए दीपक से उनमें आग लगने के प्रसंग प्राप्त होते हैं।[१४४]

कृष्णचित्र काष्ठ उत्तम काष्ठ समझा जाता था। कुशल शिल्पी अनेक प्रकार के वृक्षों[१४५] की लकड़ियों से खड़ाऊं (पाउया) तैयार करते और उनमें वैडूर्य तथा सुन्दर रिष्ट और अंजन जड़कर चमकदार बहुमूल्य रत्नों से उन्हें भूषित करते थे।[१४६]

चित्र उद्योग

'बृहत्कल्पभाष्य' से ज्ञात होता है कि एक बुद्धिमान गणिका ने अपनी चित्रसभा में विविध उद्योगों से सम्बन्धित चित्र बनवा रखे थे। जब कोई आगन्तुक चित्र विशेष की ओर आकर्षित होता था तब वह उसकी वृत्ति और रुचि का अनुमान लगा लेती थी।

गणिगा मरुगीऽमच्चे, अपसत्थो भावुवक्कमो होइ ।
आयरियस्स उ भावं, उवक्कमिज्जा अह पसत्थो ।।[१४७]

चर्म उद्योग

चर्मकार अथवा पदकार चमड़े का काम करते थे। जैन साध्वियों के लिये निर्लोम चर्म धारण करने का विधान है।[१४८] जैन साधुओं के उपयोग आने वाले सामानों में चमड़े का एक उपकरण था। वस्त्र के अभाव में उन्हें इसका उपयोग विहित था।[१४९] जैन साधु और साध्वियाँ भी विशेष परिस्थिति में (रुग्ण आदि होने पर) बकरे, भेड़, गाय, भैंस तथा व्याघ्र के चर्म का उपयोग कर सकते

थे।[१५०] साध्वियों के रुग्ण हो जाने पर उनके लिए व्याघ्र (दीवि) और तरच्छ (व्याघ्र की एक जाति) के चर्म के उपयोग करने का विधान है।[१५१] कुत्ते के चमड़े का भी उल्लेख मिलता है।[१५२]

प्रसाधन उद्योग

प्रसाधन उद्योग उस समय उन्नत पर था। द्रव्यों से सुगन्धित तेल, विलेपन तथा विविध शृंगारपरक प्रसाधन बनाने का वर्णन किया गया है।[१५३]

तेल उद्योग

उस समय सरसों, अलसी, एरण्ड, तिल तथा इंगुदी आदि के बीजों से तेल निकाला जाता था। अलाबु नामक पाल-लेप के सन्दर्भ में तेल के उपयोग का उल्लेख है।[१५४]

धातु उद्योग

धातुओं के उत्पत्ति-स्थान को 'आकर' कहा गया है।[१५५] खानों और उनसे निकलने वाले खनिज पदार्थों के सन्दर्भ से पता चलता है कि खनन क्रिया विस्तृत रूप से की जाती थी।[१५६] खान खोदने वाले श्रमिक 'सितिखाना' कहे जाते थे।[१५७] खनिज पदार्थों की भरमार थी। खनिजों में लोहा, तांबा, सीसा, चाँदी (हिरण्य, रूप्य), सोना (सुवर्ण), मणि, रत्न और वज्र उपलब्ध होते थे।[१५८]

लौह उद्योग

लोहे का काम करने वाले को 'लोहकार' या 'अयस्कार' कहा जाता था। लोहार कृषि के उपकरण यथा- हल, कुदाली, फरसा, दतियां आदि के साथ अन्य बहुत घर के काम आने वाली वस्तुएँ जैसे- कैंची, छुरियाँ, सूइयां, नखछेदनी आदि भी बनाते थे।[१५९] लोहार प्रातः ही अपनी भट्ठी जलाकर अपना कार्य आरम्भ कर देते थे।[१६०] इस्पात बनाने के लिए लोहा ढाला जाता था। सूची (सूई) के उल्लेख से इस्पात की सूचना मिलती है।[१६१] लुहारों (कम्मार=कर्मार) का व्यापार उन्नति पर था। लोहे की कीलें, डंडे और बेड़ियां, कवच, हथियार, आरिका नखार्चनी शस्त्रकोश आदि बनाये जाते थे।[१६२]

दन्तकर्म

हाथीदांत बहुत कीमती माना जाता था। हाथी-दाँत के लिए लोग हाथियों का शिकार करते थे। हाथी-दाँत की मूर्तियाँ भी बनायी जाती थीं।[१६३]

स्वर्ण उद्योग

'बृहत्कल्पभाष्य और निशीथचूर्णि' से पता चलता है कि एक पशुपालक को कहीं से स्वर्ण मिला जिसे उसने किसी स्वर्णकार को सोने के मोरंग (कुंडल) बनाने के लिये दिया। स्वर्णकार ने लोभवश ताँबे का बनाकर उस पर स्वर्ण का पानी चढ़ाकर दे दिया।[१६४] इससे ज्ञात होता है कि उस समय स्वर्ण के कलापूर्ण आभूषण बनाये जाते थे। 'वसुदेवहिण्डी' से भी पता चलता है कि मथुरा के अजितसेन ने जिनपाल स्वर्णकार के पुत्र को बुलाकर आभूषण बनाने की आज्ञा दी थी।[१६५]

लवण उद्योग

लवण (नमक) का भोजन में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। 'बृहत्कल्पभाष्य' में उल्लेख है कि नमक और मिर्च मसालों से संस्कारित भोजन स्वादिष्ट होता है।[१६६]

भाण्ड उद्योग

मृण्भाण्ड बनाने वालों को 'कुम्हार' और बर्तन बनाने वालों को 'कोलालिक' कहा जाता था। कुम्हार मिट्टी तथा पानी को मिलाकर उसमें क्षार तथा करीष मिलाकर मृत्तिकापिण्ड तैयार करता था। फिर उसे चाक पर रखकर दण्ड और सूत्र की सहायता से आवश्यकतानुसार छोटे-बड़े बर्तन तैयार करता था।[१६७] कुम्हार की पाँच प्रकार की शालाओं का उल्लेख है। जहाँ कुम्हार बर्तन बनाते थे उसे 'कम्मशाला' कहा जाता था, जहाँ जलाने के लिये तृण लकड़ी गोबर के उपले रखे जाते थे उसे 'इंधणसाला' कहा जाता था, जहाँ बने हुए बर्तन भट्ठी में पकाये जाते थे उसे 'पचनसाला' कहा जाता था और जहाँ बर्तन बनाकर एकत्रित और सुरक्षित किया जाता था उसे 'पणतसाला' कहा जाता था।[१६८]

सूर्यास्त के बाद दीपक जलाकर प्रकाश किया जाता था। दीपक प्रायः मिट्टी के होते थे। कुछ दीपक सारी रात जलाये जाते और कुछ थोड़े समय के लिये।[१६९] स्कन्द और मुकुन्द के चैत्यों में रात्रि के समय दीपक जलाये जाते और अनेक बार कुत्तों या चूहों के द्वारा दीपक के उलट दिये जाने से देवताओं की काष्ठमयी मूर्तियों में आग लग जाती।[१७०]

वास्तु

'बृहत्कल्पभाष्य' के प्रथम उद्देश में दुर्ग, एक या अनेक द्वारों से युक्त प्राचीर, उपाश्रय, वसति, चैत्यगृह आदि का बार-बार उल्लेख हुआ है जिससे प्रतीत होता

है कि उस समय वास्तु-निर्माण का कार्य काफी उन्नत था। वास्तु उद्योग ने इतनी उन्नति कर ली थी कि वातानुकूल गृहों का भी निर्माण होता था।[१७१] नगरों में चौड़ी सड़कें और उनको जोड़ने वाली छोटी-छोटी वीथियाँ बनाई जाती थीं। जैन ग्रन्थों में वास्तु विशेषज्ञों के नाम आये हैं जो राजमहल, भवन, सभामण्डप, तृणकुटीर, साधारण घर, गुफा, बाजार, देवालय, प्याऊ, आश्रम, भूमिगृह, पुष्करिणी, बावड़ी, स्तूप आदि बनाते थे।[१७२]

मद्य उद्योग

'बृहत्कल्पभाष्य' में विभिन्न वस्तुओं से मदिरा निर्माण किये जाने का प्रमाण मिलता है। इसमें गुड़ से बनायी जाने वाली मदिरा को 'गौड़ी' चावल आदि से बनायी जाने वाली मदिरा को 'पेष्टी' बाँस के अंकुर (करीलों) से बनायी गयी मदिरा को 'वशीण' तथा फलों से बनायी गयी मदिरा को 'फलसुराण' कहा जाता है।[१७३]

कुटीर उद्योग

उपर्युक्त उद्योगों के अतिरिक्त कुटीर उद्योग भी प्रचलित थे। ऊन, मूंज, ऊँट के बाल, सन आदि के रोयें से साधुओं के लिए 'रजोहरण' बनाये जाते थे।[१७४]

काष्ठकर्म और पुस्तकर्म से बनाई गई प्रतिमायें जघन्य, हाथी दाँत से बनायी हुई मध्यम और मणियों से बनाई हुई पुत्तलिकाएँ उत्तम मानी जाती थीं।[१७५] गृह-निर्माण कला काफी विकसित प्रतीत होती है क्योंकि राजगीर और बढ़ई के काम को मुख्य धन्धों में गिना गया है। मकानों, प्रासादों, तलघरों और मंदिरों की नींव रखने के लिये अनेक राजगीर और बढ़ई काम करते थे।[१७६] मकान बनाने के लिए ईंट (इट्टिका)[१७७], मिट्टी (पुढ़वी), शर्करा, (सक्करा), बालू (बालुया), और (उपल)[१७८] आदि की आवश्यकता पड़ती थी।

रंग-उद्योग

'बृहत्कल्पभाष्य' में सादे और रंगे हुये वस्त्रों का उल्लेख हुआ है और उसी जगह कृष्ण, नील, लोहित, पीत और शुक्ल रंगों का वर्णन भी किया गया है जिससे प्रतीत होता है कि रंगाई का काम विधिवत होता था।[१७९]

औद्योगिक श्रम

'बृहत्कल्पभाष्य' से पता चलता है कि प्राय: सभी प्रकार के शिल्पी अपने-अपने व्यवसाय के संरक्षण एवं प्रवर्धन के प्रति सचेष्ट थे। इसी कारण वे 'निगम',

संघ, श्रेणी, पूग और निकाय जैसे संगठनों में संगठित थे।[१८०] 'वसुदेवहिण्डी' से पता चलता है कि कोवकास शिल्प सीखने के लिये यवनदेश गया था और वहाँ के आचार्य से सब प्रकार का काष्ठकर्म सीखकर वह ताम्रलिप्त आया था।[१८१] बृहत्कल्पभाष्य में इन शालाओं के सम्बन्ध में पता चलता है। लोहारों की शाला 'कर्मारशाला' 'समर' और 'आयस' कहा जाता था। तन्तुवाय की शाला को 'न्रतकशाला' कहा जाता था और स्वर्णकार की शाला को कलादशाला कहा जाता था।[१८२]

मुद्राएँ

कीमतें रुपये-पैसे के रूप में निर्धारित होती थीं। रुपया-पैसा भारत में बहुत प्राचीन काल से विनिमय का माध्यम था। 'बृहत्कल्पभाष्य' में कई प्रकार के सिक्कों का वर्णन मिलता है। 'बृहत्कल्पभाष्य' में द्वीप (सौराष्ट्र के दक्षिण में एक योजन चलने पर समुद्र में स्थित) के दो साभरक को उत्तरापथ के एक रुप्यक के बराबर, उत्तरापथ के दो रुप्यक को पाटलिपुत्र के एक रुप्यक के बराबर, दक्षिणापथ के दो रुप्यक को कांचीपुरी के एक नेलक के बराबर, तथा कांचीपुरी के दो नेलक को कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) के एक नेलक के बराबर कहा गया है।[१८३] तीतर एक कर्षापण में मिल जाता था। गाय का मूल्य ५०० सिक्के तथा कम्बलों का मूल्य १८ रुप्यक से लगाकर एक लाख रुप्यक तक था।[१८४] 'बृहत्कल्पभाष्य' में स्वर्ण, केवडिक, रजत, ताम्र, रूवग प्रकार के सिक्कों का वर्णन मिलता है।[१८५]

केवडिक प्रकार का सिक्का

स्वर्ण सिक्कों के साथ ही केवडिक (केवडिए) नामक सिक्कों का भी उल्लेख है। 'निशीथचूर्णी' में भी केवडिय नामक सिक्के का उल्लेख हुआ है।[१८६] लेकिन इस सिक्के के बारे में कोई ठोस जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

रूवग प्रकार का रजत सिक्का

चाँदी द्वारा निर्मित सिक्कों में 'रूवग या रुप्यक' उस समय सर्वाधिक प्रचलित सिक्का था। विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित रूवग भिन्न-भिन्न नाम वाले तथा मूल्यक्षमता वाले थे। सौराष्ट्र और दक्षिणापथ में प्रचलित रूवग को 'साभरग' कहा जाता था। उत्तरापथ के रूवग को 'उत्तरपहगा' और दक्षिणापथ के रूवग को 'दक्षिणपहगा' तथा कांचीपुर के रूवग को 'नेलक' कहा जाता था। कुसुमपुर तथा पाटलिपुत्र में प्रचलित रूवग को 'पाटलिपुत्तगा' कहा जाता था।[१८७]

रूवग की प्रामाणिकता

रजत निर्मित रूवगों में पाटलिपुत्र का रूवग सबसे प्रामाणिक माना जाता था। पाटलिपुत्र का एक रूवग, उत्तरापथ के दो रूवग तथा द्विग (द्वीप) के चार साभरग के बराबर था। इसी प्रकार कांचीपुर के दो नेलक एवं दक्षिणापथ का दो रूवग, पाटलिपुत्र के एक रूवग के बराबर था।[१८८]

रजत निर्मित द्रम्म

रजत निर्मित एक अन्य सिक्का जिसे द्रम्म कहा जाता था, भिल्लमाल (भिनमाल, जिला जोधपुर) में प्रचलित था।[१८९]

ताम्र सिक्के

तांबे के सिक्कों के रूप में पण, माष और काकणी का उल्लेख हुआ है। ताँबे के कर्षापण का सोलहवाँ भाग माष कर्षापण था। ताँबे का एक छोटा सिक्का काकिणी भी था जो दक्षिण भारत में प्रचलित था।[१९०] 'निशीथचूर्णि' के अनुसार प्रतिदिन के व्यवहार में ताम्र के सिक्कों का प्रयोग किया जाता था।[१९१]

अन्य सिक्के

इन सिक्कों के अतिरिक्त छोटे सिक्कों के रूप में कौड़ियों का भी प्रयोग होता था। यह समुद्री जीव के शरीर का आवरण था। 'बृहत्कल्पभाष्य' में इसे 'कवडुक'[१९२] कहा गया है।

'बृहत्कल्पभाष्य' और उसकी वृत्ति में अनेक मुद्राओं का उल्लेख है। सबसे पहले कौड़ी (कवडग) का नाम आता है। ताँबे के सिक्कों में काकिणी[१९३] का उल्लेख है, जो सम्भवतः सबसे छोटा सिक्का था और दक्षिणापथ में प्रचलित था।[१९४] चाँदी के सिक्कों में द्रम्म[१९५] का नाम आता है और भिल्लमाल (भिनमाल, जिला जोधपुर) में यह सिक्का प्रचलित था। सोने के सिक्कों में दीनार[१९६] अथवा केवडिका का उल्लेख है जिसका प्रचार पूर्व देश में था। मयूरांक राजा ने अपने नाम से चिह्नित दीनारों को गाड़कर रक्खा था।[१९७] 'बृहत्कल्पभाष्य' तथा 'निशीथचूर्णि' में दीनार का उल्लेख एक स्वर्ण सिक्के के रूप में किया गया है। जिसका प्रचलन पूर्व देश में अधिक था।[१९८] आपसी लेन-देन अथवा वस्तुओं के क्रय-विक्रय में इन सिक्कों का प्रयोग किया जाता था। प्राचीन काल में दीनार ग्रीक से लिया गया लैटिन का 'देनेरियस' था जो एक प्रकार का चाँदी का सिक्का था।[१९९]

इस प्रकार यह ग्रन्थ तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों का एक सम्यक् लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है जिसमें जीविका के साधनों के साथ-साथ उस समय के आर्थिक प्रदेयों की भी विस्तृत चर्चा की गयी है।

सन्दर्भ

१. बृहत्कल्पसूत्र भाष्य, गा. ८२५

२. वही, गा. ८२५ एवं उसकी वृत्ति

३. बृहत्कल्पसूत्र भाष्य, गा. ४८९१

४. वही, गा. ३७५७

५. वही, पीठिका गा. ७२९

६. वही, पीठिका गा. ७७

७. वही, गा. १०९१

८. वही, गा. १०९२

९. वही, गा. १०

१०. वही, पीठिका गा. ५७५

११. वही, गा. ३४६८

१२. वही, वृत्ति, भाग-१, पृ. ७९ निशीथचूर्णि में भी इन उपकरणों का उल्लेख है- मधुसेन, ए कल्चरल स्टडी आफ निशीथचूर्णि, पृ. १९४

१३. मधुसेन, वही, पृ. १९४

१४. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ८२६

१५. वही, गा. ८२७

१६. वही, पीठिका गा. ८२६

१७. वही, गा. १२३९

१८. निशीथचूर्णि, पीठिका ३२९

१९. महाभारत, सभापर्व ४७.९ तथा ५.६७

२०. (क) बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, पीठिका गा. ८२८

(ख) व्रीहिर्यवो मसूरो, गोधूमो मुद्ग-भाष-तिल-चणकाः।
अणवः प्रियंगु-कोद्रवमुकुष्ठकाः शालिराढक्य ।।
किञ्च कलाप कुलत्थौ शरणसप्तदशानि बीजानि ।। बृ.क.भा.वृ

२१. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ३३००

निशीथचूर्णि में २४ प्रकार के धान्यों का उल्लेख है- मधुसेन, पूर्वोक्त, पृ. १२५

२२. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, ३३०१

२३. वही, १२१२

२४. वही, गा. ३२९९

२५. वही, गा. १०९२

२६. वही, गा. ३२९८

२७. जगदीश चन्द्र जैन, जै.आ.सा. में भा.स.पृ. १२२

२८. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ३३११

२९. वही, गा. ३३९४-९५; निशीथसूत्र, १७.१२४ में कोठी (कोठिया) का उल्लेख है।

३०. व्यवहारभाष्य, १०.२३; सूत्रकृतांग, ४.२.७.१२

३१. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, पीठिका गा. ५७५; उत्तराध्ययनसूत्र १९.५३

३२. वही, पीठिका गा. ३८०

३३. वही, गा. ३४६८

३४. वही, पीठिका गा. ७२९

३५. जंगिय, भंगिय, साणिय, पोत्तय और तिरीयपट्टक नाम के पाँच वस्त्र गिनाये जाते हैं। इनमें केवल पोत्तय ही कपास से बनाया जाता था। - मधु सेन, निशीथचूर्णि, पृ. १४७-४९

३६. जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. १२४

३७. वही, व्यवहारभाष्य, संपा. मुनि दुलहराज, जै.वि.भा. २००४, गा. १०००, उपासकदशा-१

३८. वही, टीका, गा. १२१९ पर

३९. वही, टीका गा. १२६८; परिशिष्ट ५५, पृ. ७०३, उत्तराध्ययन, २७.३-४

४०. वही, गा. २१९९

४१. वही, गा. ५२०२

४२. वही, गा. ३२४०-८९

४३. वही, गा. २१११

४४. निशीथचूर्णि, ४.१६३८

४५. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, टी., गा. २७६२
४६. नि.चू. २०, पृ. ३०४
४७. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ३९१४
४८. 'निवेसो सत्थाइजत्ता वा' -बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. १०९१
४९. निगम नैगम वग्गो' - वही, गा. १०९०
५०. वही, गा. १११०
५१. वही, गा. १०९०, मोतीचन्द्रकृत सार्थवाह, पृ. १६३
५२. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य वृत्ति, पृ. ३४२
५३. मधु सेन, ए कल्चरल स्टडी आफ दी निशीथचूर्णि, वाराणसी, १९७५, पृ. २०९
५४. 'दोणमुह जलमले पट्टेण' - बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. १०९०
५५. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य वृत्ति, पृ. ३४२
५६. मोतीचन्द, सार्थवाह, पटना, १९५३, पृ. १६३
५७. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. १०९१
५८. वही, गा. १०९१
५९. मोतीचन्द के सार्थवाह में लिखित वासुदेवशरण अग्रवाल की भूमिका, पृ. २
६०. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ३०८६, नि.चू. ४.५६७७
६१. 'जइ अम्हं कोइ बालो आदिसछाओ बुड्ढो दुब्बलो गिलाणों वा गंतुनण सकेज्जा तुब्भेहिं चडावेयब्बो'। -बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ३०७८
६२. वही, गा. ३०८०
६३. 'जई जत्थ दिसा मूढ़ो हवेज्जा गच्छोसवा लबुड्ढोवणदेवताये ताहे णिवमपगंथ तह करेति' - बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ३१०८
६४. वही, गा. ३०८७
६५. वही, गा. ३०६८
६६. 'जल-थलपहेसु रयणाणुवज्जणं तेण अडविपच्च्ते ।

विपन्वते निक्खणण फुट्टपत्थर मा मे रयणेहर पलावो ।।'

-बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ५८५७

६७. 'सावय अण्णह, अट्ठा सय जोई जतणाये। तेणे वयणचउगरं, तत्तो व अवाउठा होंति' -बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ३१०३-३१०४

६८. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ३११०

६९. ज्ञाताधर्मकथासूत्र १.१५.५ पृ. ३८४

७०. ज्ञाताधर्मकथासूत्र, १.१७.८ पृ. ४७६; मोतीचन्द, सार्थवाह, पृ. १७२

७१. वसुदेवहिण्डी, १.१४६

७२. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ३०६६

७३. वही, गा. ३०७०

७४. वही, गा. ३०७१ व ३०७२ सार्थवाह, पृ. १६६

७५. वही, गा. ३९७३

७६. वही, गा. ३०७४

७७. वही, गा. ४८७३-७४ सार्थवाह, पृ. १६६-६७

७८. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ३०७६

७९. वही, गा. ३०७७

८०. वही, गा. ३०७९ सार्थवाह, पृ. १६७

८१. वही, पृष्ठ ३०९६-८७; सार्थवाह, पृ. १६७

८२. आवश्यकचूर्णि, पृ. १०८

८३. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ३४४२-४५; सार्थवाह, पृ. १६८

८४. वही, गा. ३११२-१४; सार्थवाह, पृ. १६८

८५. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. २७७५, २९२६

८६. वही, गा. २९२६

८७. वही, गा. २७८७

८८. वही, गा. २९२६, भाग-१, पीठिका गा. १९५

८९. वही, पीठिका गा. ५००

९०. वही, पीठिका गा. ३६०

९१. वही, गा. ३२६३

९२. सिघाडगं तियं खलु चउरच्छसमागमो चउक्कं तु छण्ह रच्छाण जहिं पवहो तं पच्चरं विती। -बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. २३००

९३. संघदासगणि-वसुदेवहिण्डी, १.४२

९४. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, पीठिका गा. २६०

९५. संघदासगणि –वसुदेवहिण्डी, १.१४८

९६. 'पाउलि मुरूंड दूते प्रसिनपुरे सचिवमेलणाडडवासे'। –बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. २२९१

९७. वसुदेवहिण्डी, २.२०९

९८. संघदासगणि –वसुदेवहिण्डी, १.४२

९९. 'कमेण अतिण्णा मो सिन्धुसागरसंगम नदिं वच्चायो उत्तरपुव्वंदिसं भयमाण अतिगचिया हूण-खस-चीण-भमिओ' –संघदासगणि –वसुदेवहिण्डी, १.१४८

१००. उत्तराध्ययन, २१.२,४

१०१. स्वर्णभूमि की पहचान वर्मा, कमलपुर की कम्बोडिया, यवद्वीप की जावा से सिंहलद्वीप की लंका से यवणद्वीप की सिकन्दिया से बब्बर की पहचान बार्बरिकम से की जाती है। –संघदासगणि-वसुदेवहिण्डी, १.१४६

१०२. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ५६१८

१०३. वही, गा. ५६१९ से ५६६४

१०४. वही, गा. २३९७, नि.चू., १६.५३२३ में कहा है–

'सगडपक्खसारिच्छं जलजाणं कोचंवीरगं'।

१०५. निशीथभाष्य,पीठिका १८३। नि.सू. १८.१२-१३ में चार प्रकार के नावों का उल्लेख है– उर्ध्वगामिनी, अधोगामिनी, योजनवेलागामिनी और अर्धयोजनवेलागामिनी।

१०६. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. २३००, राजप्रश्नीयसूत्र, १०

१०७. वही, गा. ३०७३ भा. टीका (हरिभद्र), पृ. ३८४; ज्ञाताधर्मकथा, १५, पृ. १६० तथा फल जातक, १, पृ. ३५२, आदि; अपण्णक जातक (१), पृ. १२८ आदि; अवदानशतक २, १३, पृ. ७१

१०८. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ३१७१

१०९. वही, गा. ३१७१

११०. वही, वृत्ति; पृ. १०९०

१११. वही, पृ. ३४२

११२. वही, गा. १०९०

११३. वही, गा. ४२५

११४. बृ.क.भा. वृत्ति, भाग-२, गा. १२३९

११५. आवश्यकचूर्णी, पृ. ४७२

११६. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. २५०६

११७. अवदानशतक, २.४७६ (१३ आदि)

११८. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ४२२०

११९. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य वृत्ति, गा. १०९३; तथा परमत्थदीपिका, उदान-अट्ठकथा पृ. ४२२।

१२०. वही, गा. २३०

१२१. वही, गा. ३७५७; तुलना कीजिए- राइस डेविड्स, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, पृ. २०७। बौद्ध ग्रन्थों में श्रावस्ती के अनाथपिंडक नामक एक अत्यन्त धनी श्रेष्ठी का उल्लेख है, जो बौद्ध संघ का बड़ा प्रभावक था।

१२२. निशीथसूत्र, ९.२६ की चू.

१२३. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, वृत्ति, गा. ३८८४

१२४. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ३६६२

१२५. वही, गा. ३९१४

१२६. वही, गा. ३९१२

१२७. वही, गा. १५९

१२८. वही, गा. १५९

१२९. वही, गा. १५९१

१३०. वही, गा. ४२१६

१३१. वही, गा. २०४३

१३२. वही, गा. ४२१६

१३३. वही, पीठिका गा. ४५

१३४. वही, पीठिका गा. ६१३

१३५. वही, गा. ६२४४

१३६. वही, गा. २९९७

१३७. वही, पीठिका गा. १७१

१३८. वही, गा. ३६६१; निशीथभाष्य, गा. ७६०; स्थानांगवृत्ति, पत्र ३२१

१३९. वही, गा. ६०३५

१४०. 'अइ धूलं कत्तेसि' वही, पीठिका गा. १७१

१४१. वही, गा. ३४६५

१४२. वही, गा. २५७०

१४३. बृहत्कल्पसूत्रभाषाय गा. ३४७५

१४४. वही, पीठिका गा. २१६

१४५. वही, गा. ४०९७

१४६. कल्पसूत्र १.१४; तुलना कीजिए महावग्ग, ५.२.१७ पृ. २०९; धम्मपद अट्ठकथा, ३,पृ. ३३०, ४५

१४७. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, पीठिका गा. २६२

१४८. वही, गा. ३८१०

१४९. वही, गा. २८८५

१५०. वही, गा. ३८२४

१५१. वही, गा. ८१७ आदि

१५२. वही, गा. १०१६

१५३. वही, गा. २५५७

१५४. वही, पीठिका गा. ५२४

१५५. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य टीका, गा. १०९०

१५६. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ५६८६; उत्तराध्ययनसूत्र, ३६-७३-७७; नि.चू., २.१०३९, १०३०

१५७. नि.चू. ३.३७१९

१५८. नि.चू., ५.३५; ११.१, प्रज्ञापना, १.१७; स्थानांग ४.३४९

१५९. 'एगीकरोति परसुंणित्वचेतिणसछेदणं अवरो कुतं य वेज्झे, अरिय सूई अवरो'। - बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ३९४३

१६०. वही, गा. २५७०

१६१. वही, गा. ३५३४

१६२. वही, गा. २८८३

१६३. वही, गा. ३०६६

१६४. 'घसण मणिमादियाण कहाढी' -बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ४९०५
'मणियरा साणीर घंसन्ति लयुहेन वेधं काउ' -नि. चू., २.५०८

१६५. संघदासगणि -वसुदेवहिण्डी, २.२९६

१६६. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. १६११, १७१३

१६७. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, पीठिका गा. ३०७; उपासकदशांग ७.७

१६८. वही, गा. ३४४५-४६

१६९. वही, गा. ३४६१

१७०. वही, गा. ३६७५

१७१. वही, गा. २७१६

१७२. प्रश्नव्याकरण, १.१४

१७३. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य गा. ३४१२

१७४. वही, गाा. ३६७४

१७५. वही, गा. २४६९

१७६. वही, टीका ३९६

१७७. वही, गा. ११२३; भाग-४, गा. ४७६८-४७७०

१७८. सूत्रकृतांग, २.३.६१

१७९. वही, गा. ३८६७

१८०. वही, गा. १०९१; भाग-४, गाय. ३९५९

१८१. संघदासगणि, वसुदेवहिण्डी, १.७२

१८२. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. २९२९, उत्तराध्ययनचूर्णि, १.२६

१८३. वही, पीठिका गा. ९६९; भाग-४, गा. ३८९१ निशीथभाष्य, १०.३०७० और चूर्णि, १.९५८-५९

१८४. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, ३८९०

१८५. वही, ३८९३

१८६. वही, गा. १९६९; नि.चू., भाग-३, पृ. १११

१८७. वही, गा. ३८९१; नि.चू. भाग-२, पृ. ९५

१८८. वही, गा. ३८९१-३८९२

१८९. वही, गा. १९६९

१९०. बृहत्कल्पभाष्य, गा. १९६९

१९१. 'ताम्रमयं वा जं णाणगं क्वहरति' -नि.चू., ३.३०७०

१९२. वही, पीठिका गा. ७२१

१९३. उत्तराध्ययन टीका ७.११, पृ. ११८१ यह एक बहुत छोटा ताँबे का सिक्का होता था जो ताँबे के कार्षापण का चौथाई होता था। देखिये अर्थशास्त्र, २.१४-३२.८ पृ. १९४

१९४. नि.चू., ३.पृ. ११

१९५. यह ग्रीस का एक सिक्का था जिसे ग्रीक भाषा में द्रच्म कहा गया है।

१९६. ई. सन् की प्रथम शताब्दी में, कुषाणकाल में रोम के डेनिरियस नाम के सिक्के से यह लिया गया है।

१९७. निशीथभाष्य, १३.४३१५। सिक्कों पर मोरछाप का आरम्भ कुमारगुप्त से होता है। उसके बाद स्कन्दगुप्त और भानुगुप्त के सिक्कों में भी मोर का चलन रहा।

१९८. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, वृत्ति, पृ. ५७४, निशीथचूर्णि ३, पृ. १११

१९९. डॉ. लल्लन जी गोपाल -एकोनामिक लाइफ आफ नार्दर्न इण्डिया, पृ. २०९ दिल्ली, पटना, वाराणसी, १९६५

*

अध्याय-५

राजनैतिक जीवन

बृहत्कल्पभाष्य राजनीतिशास्त्र से संबंधित ग्रन्थ नहीं है और न ही इसका यह उद्देश्य है। फिर भी इसमें राज्य और शासन से संबंधित अनेक विषयों की चर्चा हुई है। प्राप्त सूचनाओं से तत्कालीन शासन-व्यवस्था को समझने में काफी मदद मिलती है।

राज्य के प्रकार

प्राचीन भारत में राजतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली का सर्वदा बोलबाला रहा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य शासन-प्रणालियाँ नदारत थीं क्योंकि प्राचीन ग्रंथों में उनका उल्लेख मिलता है। जैन निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों की यात्रा के सम्बन्ध में बृहत्कल्पभाष्य में उल्लेख है कि वे वैराज्यों में गमनागमन न करें। इसी सन्दर्भ में वैराज्य के चार प्रकार बतलाये गये हैं- अणराय (अराजक), जुवराय (यौवराज्य), वेरज्जय (वैराज्य) और वेरज्ज (द्वैराज्य)। अराजक राज्य उसे कहते थे जिसमें राजा की मृत्यु हो जाने पर सिंहासन के दो दावेदार हों और किसी का भी राज्याभिषेक न किया गया हो। यौवराज्य वह राज्य था जिसमें राजा की मृत्यु के बाद युवराज का बाकायदे राज्याभिषेक न किया गया हो और उसने नया युवराज नियुक्त न किया हो। वैराज्य उसे कहते थे जिस पर शत्रु की सेना का अधिकार हो गया हो। द्वैराज्य उस राज्य को कहते थे जिसमें गद्दी को अधिकृत करने के लिये दो राजाओं में युद्ध होता हो।

अणरायं निवमरणे, जुवराया जाव दोच्च णऽभिसित्तो ।
वेरज्जं तु परबलं, दाइयकलहो उ बेरज्जं ।।[१]

राजा

राजा राज्य का सर्वेसर्वा होता था। वह प्रजा का पालक और राज्य का रक्षक होता था। बृहत्कल्पभाष्य में राजा के गुण-दोष का विशद् विवेचन तो नहीं किया गया है लेकिन इतना अवश्य कहा गया है कि जो राजा स्त्री व्यसन, द्यूत व्यसन, मद्य व्यसन आदि में लिप्त रहता है वह राज्य के कार्य व्यापार को चलाने

के लिए अयोग्य होता है।[२] धर्मशास्त्रों में भी राजा में इन अवगुणों के होने की आलोचना की गई है।[३]

उत्तराधिकार

उत्तराधिकार का प्रश्न बड़ा जटिल और गम्भीर होता था। सामान्यतया राजा के ज्येष्ठ पुत्र को ही राजगद्दी का उत्तराधिकारी बनाया जाता था। परन्तु दुर्भाग्य से यदि पुत्रविहीन राजा की मृत्यु हो जाय तो मंत्रियों की सलाह से धर्मश्रवण आदि के बहाने स्वस्थ साधुओं को राजप्रासाद में आमंत्रित कर उनके द्वारा सन्तानोत्पत्ति करायी जाती थी।[४] उत्तराधिकारी खोज निकालने के लिए यथासम्भव सभी प्रकार के उपाय काम में लाये जाते थे। इस सम्बन्ध में बृहत्कल्पभाष्य में एक मनोरंजक कथा आती है। किसी राजा के तीन पुत्र थे। तीनों ने श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली थी। कुछ समय बाद राजा की मृत्यु हो गयी। मंत्रियों ने राजलक्षणों से युक्त किसी पुरुष की खोज करना आरम्भ किया, लेकिन सफलता न मिली। इतने में पता चला कि उक्त तीनों राजकुमार मुनिवेष में विहार करते हुए नगर के उद्यान में ठहरे हुए हैं। मन्त्रीगण, छत्र, चामर, खड्ग आदि उपकरणों के साथ उद्यान में पहुँचे। राजपद-स्वीकार करने के लिये उन्होंने तीनों से निवेदन किया। पहले ने दीक्षा त्यागकर संसार में पुनः प्रवेश करने से इनकार कर दिया, दूसरे को आचार्य ने साध्वियों के किसी आश्रम में छुपा दिया। तीसरे ने श्रमण-जीवन का पालन करने में असमर्थ होने से राजपद स्वीकार कर लिया।[५]

उस समय उत्तराधिकारी चुनने का एक और तरीका था जो व्यवहारभाष्य में दिया हुआ है। नगर में एक घोड़ा घुमाया जाता था। जिसके पास वह घोड़ा पीठ करके रुक जाता था उसे राजगद्दी पर बैठा दिया जाता षा। इस संदर्भ में मूलदेव का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। कहा गया है कि जब चोरी के अपराध में मूलदेव को फाँसी देने के लिए ले जाया जा रहा था उसी समय वहाँ के पुत्रविहीन राजा की मृत्यु हो गई। परंपरा के अनुसार घोड़े को नगर में घुमाया गया, घोड़ा मूलदेव की ओर पीठ करके खड़ा हो गया और मूलदेव को फाँसी ने देकर राजगद्दी पर बैठा दिया गया।[६]

राजभवन

जैन आगमों में राजाओं के निवास के लिए बनाये गये महल को राजभवन कहा गया है जब कि देवताओं के निवास वाली इमारत को प्रासाद कहा गया

है।[७] व्यवहारभाष्य में चक्रवर्ती राजाओं, वासुदेवों, माण्डलिकों और सामान्य जन के महलों का उल्लेख हुआ है।[८] राजभवन का ही एक हिस्सा अन्तःपुर कहलाता था जिसके संबंध में प्रस्तुत ग्रन्थ में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं।

अन्तःपुर में प्रधान महिषी के अतिरिक्त अन्य रानियाँ होती थीं और राजा सुन्दर नारियों द्वारा उनकी संख्या में वृद्धि की बराबर चेष्टा करता था। कभी-कभी तो वह समूह के नारियों को ले आता था। बृहत्कल्पभाष्य में इसी तरह की घटना का उल्लेख हुआ है। एक बार इन्द्रमह का उत्सव मनाया जा रहा था। पाँच सौ कन्याएँ इन्द्रदेव की पूजा के लिए गई हुई थीं। उत्सव को देखने के लिए वहाँ का हेम नामक राजकुमार भी गया हुआ था। इन कन्याओं को देखकर राजकुमार मोहित हो गया और वह उन्हें अपने अन्तःपुर में उठवा ले गया। इन कन्याओं के माता-पिता ने राजा से शिकायत की तो राजा ने पूछा कि 'क्या तुम लोग मेरे पुत्र को अपना दामाद नहीं बनाना चाहते।' इस पर वे राजी हो गये और सभी कन्याओं का राजकुमार से विवाह कर दिया गया।[९]

अन्तःपुर की रक्षा के लिए राजा सतत् प्रयत्नशील रहता था ताकि उसकी पवित्रता में किसी भी प्रकार का धब्बा न लगे। इसीलिए अन्तःपुर की रक्षा के लिए नपुंसक और वृद्धजनों को नियुक्त किया जाता था।[१०] बृहत्कल्पभाष्य में नपुंसक को पंडक कहा गया है और उनके छह लक्षण बताये गये हैं- महिलास्वभाव, स्वरभेद, वर्णभेद, महन्भेद (प्रलम्ब अंगादान), मृदुवाक् और सशब्द एवं अफेनक मूत्र।[११] उक्त ग्रन्थ में उनके कई भेद-प्रभेद भी बतलाये गये हैं। लेकिन श्रमण-दीक्षा के लिए उन्हें अयोग्य माना गया है।[१२]

अन्तःपुर का एक अन्य रक्षक वरिसधर होता था जिसे बचपन में ही बधिया कर दिया जाता था।[१३] निशीथचूर्णि में वरिसधर के अतिरिक्त चार और रक्षक होते थे जिन्हें दंडारक्खिय, दोवोरिय, कंचुकिन और महत्तरग कहा जाता था।[१४]

मजबूत सुरक्षा के बावजूद कुछ अनहोनी हो ही जाती थी। बृहत्कल्पभाष्य में उल्लेख है कि अन्तःपुर की कन्याएँ खिड़कियों के पास बैठकर विटपों यानी लंपटों से बातचीत किया करती थीं और एक दिन वे उनके साथ भाग गईं।[१५] इसीलिए अन्तःपुर में बन्दरों का प्रवेश निषिद्ध था।[१६] यह इस बात का सूचक है कि राजा अन्तःपुर की सुरक्षा के लिए कितनी सावधानी बरतता था।

अन्त:पुर की रानियों में परस्पर घृणा होती थी। इसके कारण वे एक दूसरे के पुत्रों से भी ईर्ष्या करती थीं। ईर्ष्या के कारण ही कुणाल की सौतेली माँ ने षडयन्त्र से अपने सौतेले पुत्र की आँखें निकलवा ली थीं।[१७]

शासन-व्यवस्था

शासन व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए राजा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती थी। राजा को सहायता प्रदान करने हेतु मंत्री-परिषद् के साथ-साथ कई अन्य अधिकारी होते थे। इन अधिकारियों के द्वारा सुदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित हो सकी।

केन्द्रीय शासन

प्रशासनिक कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए मंत्रिपरिषद् का गठन किया जाता था। मंत्रिपरिषद में तीन, पाँच अथवा सात विशिष्ट व्यक्ति होते थे।[१८] निशीथचूर्णि के अनुसार इसमें राजा, युवराज, अमात्य, श्रेष्ठी, पुरोहित, सेनापति और सार्थवाह होते थे।[१९] लेकिन बृहत्कल्पभाष्य में इस प्रकार की कोई सूची प्राप्त नहीं होती है। उसमें तो निम्न प्रकार के पाँच परिषदों का उल्लेख हुआ है- पूरन्ति, छत्तन्ति, बुद्धि, मन्त्रि और रहस्यिका।

पूरंती छत्तंतिय, बुद्धि मंती रहस्सिया चेव।
पंच विहा खलु परिसा, लोइअ लोउत्तरा चेव ।। (बृ.क.सू.भा. ३७८)

राजा जब यात्रा हेतु बाहर जाता और जब तक वापस लौटकर न आ जाता, तब-तक राजकर्मचारी उसकी सेवा में उपस्थित रहते थे। इस परिषद् को पूरन्ति परिषद् कहा जाता था। छत्तन्ति परिषद् के सदस्य राजा के सिर पर छत्र से छाया करते थे और राजा की बाह्यशाला तक ही प्रवेश कर सकते थे। बुद्धि परिषद् के सदस्य लोक, वेद और शास्त्र के पण्डित होते थे। लोक प्रचलित अनेक प्रवाद उनके सामने प्रस्तुत किये जाते थे जिनकी वे छानबीन करते थे। मंत्रि-परिषद् के सदस्य राजशास्त्रों के पण्डित होते थे और उनके पैतृक वंश का राजकुल से सम्बन्ध नहीं होता था। ये राज्य का हित चाहने वाले वयोवृद्ध तथा स्वतंत्र विचारों के होते थे और राजा के साथ एकान्त में बैठकर मंत्रणा करते थे। पाँचवी परिषद् का नाम रहस्सिया परिषद् था। यदि कभी रानी राजा से रूठ जाती हो तो इसके सदस्य उसे शान्त करते थे। वे रानी के रजस्वला होने के बाद स्नान की सूचना, विवाह योग्य राजकुमारी की सूचना और रानी के गुप्तप्रेमालाप की सूचना राजा को देते थे।[२०] इनके सहयोग से राजा राज्य के विविध कार्यों का संपादन करता था।

स्थानीय शासन

प्राचीन भारत में ग्राम शासन की प्राथमिक इकाई होती थी। नगर अथवा राजधानी की भाँति यहाँ किलेबन्दी नहीं होती थी। एक नगर में बहुत से ग्राम होते थे। बृहत्कल्पभाष्य में उल्लेख है कि मथुरा नगरी में उस समय ९६ गाँव थे।[२१] ग्राम की सीमा के निर्धारण के संबंध में बताया गया है कि जहाँ तक एक ग्राम की गायें चरने के लिये जांय, अथवा जहाँ तक गाँव का घसियारा या लकड़हारा सुबह उठकर घास या लकड़ी काटे और शाम तक अपने निवास पर लौट आये, अथवा जहाँ तक गाँव के बच्चे खेलने के लिए जांय वहाँ तक उस ग्राम की सीमा होती थी। गाँव की खुद की चहारदीवारी से भी उसकी सीमा निर्धारित हो जाती थी। गाँव के छोर पर स्थित कुएँ एवं बगीचे से भी उसकी सीमा का निर्धारण हो जाता था। गाँव के मध्य में एक देवकुल यानी मंदिर होता था।[२२] बृहत्कल्पभाष्य में ग्रामों के बारह प्रकार बतलाये गये हैं– उत्तानमल्लक, अधो मुखमल्लक, संपुटकमल्लक, उतानखण्डमल्लक, अधो मुखखण्डमल्लक, संपुटखण्डमल्लक, भिति, पडालिका, वलभी, अक्षवाटक, रुचक और काश्यपसंस्थित।[२३]

गाँवों में विभिन्न वर्ण और जातियों के लोग रहते थे, लेकिन ग्रामों में मुख्य रूप से एक ही जाति अथवा पेशेवाले रहा करते थे, जैसे– वैशाली नगरी तीन भागों में विभक्त थी– वंभणगाम, खत्तियकुण्डगाम और वाणियगाम। इनमें क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वणिक लोगों का निवास था। कुछ गाँवों में मयूर-पोषक[२४] (मयूर को शिक्षा देने वाले) अथवा नट[२५] रहा करते थे। चोरपल्लि में चोर रहते थे। सीमाप्रान्त के गाँव प्रत्यन्तग्राम (पंचतगाम) कहलाते थे, जो उपद्रवों से खाली नहीं थे।[२६] कभी-कभी गाँवों में मारपीट होने पर लोगों की जान चली जाती थी।[२७]

गाँवों के मध्य भाग में सभागृह होता था जहाँ गाँव के प्रधान पुरुष आराम से बैठ सकते थे।[२८] गाँव के प्रधान को भोइअ (भोजिक) कहा जाता था।[२९] भोजिक काफी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होता था। एक स्थल पर उल्लेख है कि राजा ने एक भोजिक से प्रसन्न होकर उसे ग्राम-मण्डल प्रदान कर दिया। ग्रामवासी भोजिक की सरलता से बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उनसे निवेदन किया कि अब हम पीढ़ी दर पीढ़ी तक आपके सेवक बन गये हैं, लेकिन धीरे-धीरे ग्रामवासियों ने उसका सम्मान करना छोड़ दिया। इस पर रुष्ट होकर भोजिक ने उन सबको दण्डित किया।[३०]

न्याय व्यवस्था

देश में शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिए न्याय की समुचित व्यवस्था का होना आवश्यक है। बृहत्कल्पभाष्य से उस समय की न्याय व्यवस्था के संबंध में कुछ ही सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। वाद को व्यवहार कहा गया है।[३१] राज्यकुल में उत्पन्न कारणिक नामक राज्याधिकारी न्यायालय में वादों-प्रतिवादों के आधार धर्माधिकारी पर अभियोगों का न्याय करता था।[३२] बृहत्कल्पभाष्य से ज्ञात होता है कि चोरी और लड़ाई-झगड़े के अभियोग राज्यकुल में जाते थे।[३३] वसुदेवहिण्डी में ही एक ग्रामीण का उल्लेख हुआ है जो रात को चोरी से अपने खेतों में पानी दे देता था। उसके विरुद्ध साक्ष्य मिलने पर और दोष सिद्ध हो जाने पर उसे दण्डित किया गया था।[३४] व्यवहारभाष्य में न्यायाधीश के लिए रूपयक्ष शब्द का प्रयोग हुआ है। रूपयक्ष को भंभीय, आसुरूक्ख, माठर के नीतिशास्त्र और कौंडिन्य की दण्डनीति में कुशल होना चाहिए, उसे लालच नहीं करनी चाहिए और निर्णय देते समय निष्पक्ष रहना चाहिए।[३५]

मनुस्मृति में वाद के अठारह कारण बताये गये हैं-

१. ऋणवसूली करना, २. किसी के पास गिरवी रखना, ३. मालिकाना हक के बिना किसी वस्तु का विक्रय करना, ४. साझे का लेन देन होना, ५. दान में दी हुयी वस्तु को वापस लेना, ६. वेतन न देना, ७. प्रतिमा भंग करना, ८. खरीद-बिक्री में किसी बात को लेकर मतभेद हो जाना, ९. स्वामी और पशुपालकों में विवाद हो जाना, १०. सीमा का विवाद होना, ११. मारपीट करना, १२. चोरी करना, १३. जबर्दस्ती किसी की चीज ले लेना, १४. पराये पुरुष के साथ स्त्री का संपर्क होना, १६. पैतृक सम्पत्ति का बंटवारा होना, १७. जुआ खेलना और १८. पशु-पक्षियों को लड़ाना,[३६] इनमें से कुछ कारणों के प्रमाण प्रस्तुत ग्रन्थ में भी प्राप्त होते हैं।

बृहत्कल्पभाष्य में उल्लेख है कि कभी-कभी रात के समय वेश्याएँ जैनश्रमणों के उपाश्रय में पहुँचकर उपद्रव करतीं। ऐसे समय उन्हें वहाँ से निकालने के सारे प्रयत्न निष्फल हो जाने पर साधु उसे बंधन में बाँध, राजकुल में ले जाते और राजा से उसे दण्ड देने का अनुरोध करते।[३७] उस समय चोरों का बहुत आतंक था। वे साध्वियों का अपहरण कर लेते थे, सार्थवाहों के यान नष्ट कर डालते थे, साधुओं के उपाश्रयों में जबरदस्ती घुस जाते थे और उनके कंबल आदि उठा ले जाते थे।[३८] चोर अपनी निर्दयता और क्रूरता के लिए प्रसिद्ध थे।

चोरों के भय से लोग रास्ता बन्द कर देते और मुख्य-मुख्य रास्तों पर स्थान पालक रक्षा करते थे।[३९] साध्वियों के अपहरण की घटना का उल्लेख अन्य जैन ग्रन्थों में भी हुआ है।[४०]

इसके अतिरिक्त वे स्त्री-पुरुष का भी अपहरण कर लेते थे। एक बार उज्जैनी के किसी सागर के पुत्र का हरण कर चोरों ने उसे एक रसोइये के हाथ बेच दिया।[४१] मालवा के तो वोधिक चोर प्रसिद्ध थे वे मालव पर्वत पर रहते थे।[४२]

चोरी और व्यभिचार की भाँति हत्या भी महान् अपराध गिना जाता था। हत्या करने वाले अर्थदण्ड (जुर्माना) और मृत्युदण्ड के भागी होते थे।

उग्गिण्णम्मि य गुरुगो, दंडो पडियम्मि होइ भयणा उ।
एवं खु लोइयाणं, लोउत्तरियाण वोच्छामि।।[४३]

कभी-कभी मंत्री आदि भी राजाओं के कोपभाजन हो जाया करते थे। बृहत्कल्पभाष्य में उल्लेख है कि एक बार पैट्ठाण का राजा शालिवाहन अपने सेनापति को मथुरा पर विजय का आदेश दिया। सेनापति यह नहीं समझ सका कि उसे उत्तर की अथवा दक्षिण की मथुरा पर विजय प्राप्त करनी है। अत: उसने दोनों को विजित कर राजा को सूचना दे दी। इसी समय राजा को पुत्र पैदा होने तथा खजाना प्राप्त होने की भी सूचना मिली। इससे राजा खुशी के मारे पागल हो गया और वह अपने महल की शय्या, स्तंभ आदि तोड़ने लगा। यह देखकर उसका मंत्री भी राजा को होश में लाने के लिए महल की कुर्सियाँ आदि तोड़ा डाला और कहने लगा कि यह राजा की करतूत है। जब इसकी सूचना राजा को मिली तो वह गुस्से से लाल हो गया और मंत्री को मृत्युदण्ड का आदेश दे दिया। किसी प्रकार दूसरे अधिकारी उसको छुपा दिये और उसकी जान बच गई।[४४] इसी प्रकार चन्द्रगुप्त जब पाटलिपुत्र के राज्य पर अभिषिक्त हुआ तो कतिपय क्षत्रिय लोग उसे मयूरपोषकों की सन्तान समझकर उसकी अवहेलना करने लगे। इस पर क्रोधित होकर उसने क्षत्रियों के गाँवों में आग लगवा दी।[४५] कोई वैद्य किसी राजपुत्र को निरोग न कर सका अतएव उसे भी अपने जान गवानें पड़े।[४६]

चोरी का पता लगाने के लिए विविध उपायों को काम में लिया जाता। साधु दो प्रकार के चावल बांटते- एक खालिस चावल और दूसरे मोरपंख मिश्रित चावल। कोई साधु सब गृहस्थों को एक पंक्ति में बैठाकर उनकी अंजलि में पानी डालता। फिर जिस साधु ने चोर को चोरी करते हुए देखा है उसे खालिस चावल देता, और जिसने चोरी की है उसे मोरपंख मिश्रित चावल देता।[४७]

कितनी ही बार जैन साधुओं को भी दण्ड का भागी होना पड़ता। यदि उन्हें कभी कोई वृक्ष के फल आदि तोड़ते हुए देख लेता तो हाथ, पाँव या डण्डे आदि से उनकी तोड़ना की जाती, अथवा उनके उपकरण छीन लिये जाते, या उन्हें पकड़कर राजकुल के कारणिकों के पास ले जाया जाता, और अपराध सिद्ध हो जाने पर घोषणापूर्वक उनके हाथ-पैर आदि का छेदन कर दण्ड दिया जाता।[४८]

अभिलेखीय तथा साहित्यिक साक्ष्य से पता चलता है कि पंचकुल का निर्वाचन राजा द्वारा किया जाता था जो गाँव तथा नगर के मुकदमों की न्यायिक जाँच कर राजा, मंत्री तथा अन्य अधिकारियों के परामर्श से निर्णय भी देते थे।[४९] हर्षचरित्र में भी उल्लेख है कि प्रत्येक गाँव में पंचकुल पाँच अधिकारी गाँव के करण या कार्यालय के व्यवहार (न्याय और राजकाज) चलाते थे।[५०]

सेना

राज्य के अंदर शांति स्थापना के लिए और वाह्य आक्रमण से राज्य की सुरक्षा के लिए सेना का गठन अत्यन्त आवश्यक होता था। सैन्य बल को दण्ड कहा गया है।[५१] सेनापति को दण्डनायक कहा गया है।[५२] राजा अपने साम्राज्य को विस्तृत करने के लिए प्रायः युद्ध किया करते थे। युद्ध स्त्रियों के कारण भी लड़े जाते थे। जैन आचार्य कालक की साध्वी भगिनी सरस्वती[५३] को उज्जैयिनी के राजा गर्दभिल्ल से अपहरण करके अपने अन्तःपुर में उठा ले गया जिससे कालकाचार्य ने ईरान के शाहों के साथ मिलकर गर्दभिल्ल से युद्ध किया। यह कहानी भाष्यकार के भी समय में चर्चित प्रतीत होती है क्योंकि आर्य कालक का प्रस्तुत ग्रन्थ में एक जगह उल्लेख आया है।[५४] उज्जयिनी के राजा प्रद्योत और कांपिल्यपुर के राज्य दुर्मुख के बीच एक बहुमूल्य दीप्तिवान मुकुट के लिए युद्ध छिड़ गया क्योंकि इस मुकुट में ऐसी शक्ति थी कि उसे पहनने से दुर्मुख दो मुँह वाला दिखाई देने लगता था। प्रद्योत ने इस मुकुट की माँग की, लेकिन दुर्मुख ने कहा कि यदि प्रद्योत अपना नलगिरि हाथी, अग्निभीरुरथ शिवामहारानी और लोहजंघ पत्रवाहक[६] देने को तेयार हो तो वह उसे मुकुट दे सकता है। इसी बात को लेकर दोनों में युद्ध हुआ।[५५]

सेना में चार प्रकार के बल शामिल होते थे- रथ, गज, अश्व और पदाति। परंपरागत चतुरंगिणी सेना के छिटपुट उल्लेख प्रस्तुत ग्रंथ भी प्राप्त होते हैं।

रथसेना

अति प्राचीनकाल में युद्ध में रथसेना की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती थी। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि समसामयिक काल में इसका महत्त्व घट गया था क्योंकि बृहत्कल्पभाष्य में इसकी कोई भी चर्चा नहीं है। अन्य जैन ग्रंथों में इसके संबंध में कुछ सूचनाएँ अवश्य पायी जाती हैं। उनमें बताया गया है कि यह छत्र, ध्वज, पताका, घटा, तोरण, नंदिघोष और छोटी-छोटी घंटिकाओं से सुसज्जित होता था। इसकी रचना हिमालय में उत्पन्न तिनिस की लकड़ी से की जाती थी। उसके चक्के मजबूत होते थे, उसमें उत्तम नस्ल के घोड़े जोते जाते थे और उसे योग्य सारथी हाँकता था। उसके दो प्रकार भी बतलाये गये हैं- संग्रामरथ (युद्धरथ) और यानरथ (सामान्य रथ)।[५५] यान रथ का उल्लेख बृहत्कल्पभाष्य में भी हुआ है क्योंकि यानरथ में ही जिन प्रतिमा रखकर उज्जैनी का मौर्य सम्राट संप्रति रथयात्रा का उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाता था।[५७]

गजसेना

सेनाओं में गजसेना को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। जैनागम ग्रन्थ स्थानांगसूत्र में मृग, भद्र और संकीर्ण आदि हाथी के चार प्रकार बताये गये हैं। इनमें मद्र हाथी को सर्वोत्तम माना गया है।[५८] मधु-गुटिका की भाँति पिंगल नेत्र वाला, सुन्दर एवं दीर्घ पूँछ वाला, अग्र भाग में उन्नत तथा सर्वांग परिपूर्ण होता है। यह सरोवर में क्रीड़ा करता है तथा दाँतों से प्रहार करता है।[५९] बृहत्कल्पभाष्य[६०] में सरोवर में स्नान करने वाले हाथी का उल्लेख है जो स्नान के बाद अपनी पीठ पर धूल डालता था। बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार हाथियों को प्रशिक्षण देने के लिए उनको अपने सूड़ से क्रमशः काष्ठ, छोटे-पत्थर, गोली, बेर और अन्ततः सरसों उठाने का अभ्यास कराया जाता था।[६१] हाथियों से सम्बन्धित अन्य जानकारी दूसरे जैन ग्रन्थों में सुरक्षित है। उनको प्रशिक्षण देने वाले दमग उन्हें वश में करते; मेरू, हरे गन्ने, टहनी (यवस) आदि खिलाकर उन्हें सवारी के काम में लेते और आरोह युद्धकाल में उन पर सवारी करते थे।[६२] कौशाम्बी का राजा उदयन अपने मधुर संगीत द्वारा हाथियों को वश में करने की कला में निष्णात माना जाता था।[६३] मूलदेव ने भी एक वीणा बजाकर एक हथिनी को वश में कर लिया था।[६४] महावत (महामात्र; हत्थिवाउस) हस्तिशाला (जड्डशाला)[६५] की देखभाल करते। अंकुश[६६] की सहायता से वे हाथी को वश में रखते, तथा शूल (उच्चूल), वैजयन्ती (ध्वजा), माला और विविध अलंकारों से उन्हें विभूषित करते थे। हाथियों की

पीठ पर अम्बारी (गिल्लि)[६७] रक्खी जाती, जिस पर बैठा हुआ मनुष्य दिखाई न पड़ता था। उन्हें स्तम्भ (आलाण) में बाँधा जाता और उनके पाँवों में मोटे-मोटे रस्से पड़े रहते थे।[६८] हाथियों की अनेक जातियाँ होती थीं। गंधहस्ति को सर्वोत्तम बताया गया है और वह हाथियों के झुंड का प्रमुख होता था तथा गुफा में भी गिर जाने पर उठ जाता था। श्रमण संघ के आचार्य की तुलना गंधहस्ती से की गई है।

तं वयणं हिय मधुरं, आसासंकुरसमुब्भवं सयणो।
समणवरगंधहत्थी, बेइ गिलाणं परिवहंतो ।।[६९]

महावत को मिंठ कहा गया है और उसकी गणना दुस्सीलों में की गई है।[७०]

अश्वसेना

हाथियों की भाँति घोड़ों का भी बहुत महत्त्व था। वे तेज दौड़ते, शत्रु-सेना पर पहले से ही आक्रमण कर देते, शत्रु की सेना में घुसकर उसे विचलित कर देते, अपनी सेना को तसल्ली देते, और शत्रु द्वारा पकड़े हुए अपने योद्धाओं को छुड़ाते, शत्रु के कोष और राजकुमार का अपहरण करते, जिनके घोड़े मर गये हैं ऐसे सैनिकों का पीछा करते तथा भागी हुई शत्रु सेना के पीछे भागते थे।[७१] वसुदेवहिण्डी[७२] में कहा गया है कि सामान्य अवस्था में घुड़सवार सैनिक के हाथ में कोड़ा होता था लेकिन युद्धकाल में कोड़े के स्थान पर वह तलवार ग्रहण करता था।

घोड़े कई किस्म के होते और वे विविध देशों से लाये जाते थे। कंबोज देश के 'आकीर्ण' और 'कन्थक' घोड़े प्रसिद्ध थे। आकीर्ण[७३] ऊँची नस्ल के होते, तथा कन्थक पत्थर आदि की आवाज से नहीं डरते थे।[७४] वाह्लीक देश में पाये जाने वाले ऊँची नस्ल के घोड़े अश्व कहे जाते, इनका शरीर मूत्र आदि से लिप्त नहीं होता था।[७५] बृहत्कल्पभाष्य में वट्टक्खुर (वृत्तखुर) वाले घोड़ों को उत्तम कहा गया है।[७६] प्रतिवर्ष व्याने वाली घोड़ियों को 'थाइणि' कहा जाता था। घोड़ों को पालने व शिक्षित करने वाले को दमअ कहा गया है।[७७]

पदाति सेना

प्राचीन भारत में पैदल सैनिक सेना के प्रमुख अंग थे। प्राचीन जैन ग्रन्थों से स्पष्ट होता है कि चौथी शताब्दी ई. पू. से लेकर १२वीं शती ई. के अन्त

तक पैदल सैनिकों की अधिकता बनी रही। यद्यपि जैन ग्रन्थों में पैदल सेना को सेना के वरीयता क्रम में चतुर्थ स्थान प्रदान किया गया है तथापि इसके महत्त्व को नकारा नहीं गया है। बृहत्कल्पभाष्य में इन सैनिकों को चारभड कहा गया है।[७८] वे विभिन्न अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित और रणकौशल में प्रवीण होते रहे होंगे लेकिन इस संबंध में हमें कोई सूचना नहीं मिलती है। युद्ध उस समय भी अवश्यम्भावी होता था। इसीलिए नगर या दुर्ग की सुरक्षा के लिए उसके चारों तरफ मजबूत प्रकार एवं खाट का निर्माण किया जाता था।[७९] संग्राम यानी रणभूमि में भेरियों की आवाज से योद्धाओं को प्रोत्साहन मिलता था। बृहत्कल्पभाष्य में वासुदेवश्रीकृष्ण की कौमुदिकी, संग्रामिकी, दुर्भूतिका और अशिवोपशामिनी नाम की चार भेरियों का उल्लेख हुआ है। चूँकि युद्ध से अव्यवस्था फैल जाती है[८०] अतः जैन साधुओं को सेना के स्कन्धावार को दूर से ही देखकर अन्यत्र गमन कर जाने का निर्देश दिया गया है।[८१]

राजस्व व्यवस्था

बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार अर्थ यानी कोश के नष्ट हो जाने से राजा भी नष्ट हो जाता है।[८२] आवश्यकचूर्णि में भी कहा गया है कि जिस राजा का कोश क्षीण हो जाता है उसका राज्य नष्ट हो जाता है।[८३] निशीथचूर्णि में भी कहा गया है कि जो राजा अर्थ उत्पत्ति के साधनों का संरक्षण नहीं करता, धनाभाव के कारण उसका कोश क्षीण हो जाता है अर्थात् वह राजा नष्ट हो जाता है।[८४]

कर-व्यवस्था

लगान और कर के द्वारा राज्य का खर्च चलता था। व्यवहारभाष्य में साधारणतया पैदावार के दसवें हिस्से को कानूनी टैक्स स्वीकार किया गया है। खेत और गाय आदि के अतिरिक्त प्रत्येक घर से भी टैक्स वसूल किया जाता था। राजगृह में किसी वणिक् ने पक्की ईटों का घर बनवाया, लेकिन गृहनिर्माण पूरा होते ही वणिक् की मृत्यु हो गयी। वणिक् के पुत्र बड़ी मुश्किल से अपनी आजीविका चला पाते थे। लेकिन नियमानुसार उन्हें राजा को एक रुपया कर देना आवश्यक था। ऐसी हालत में कर देने के भय से वे अपने घर के पास एक झोपड़ी बनाकर रहने लगे, अपना घर उन्होंने जैन श्रमणों को रहने के लिए दे दिया था।[८५]

जैनसूत्रों में अठारह प्रकार के करों का उल्लेख मिलता है- गोकर (गाय बेचकर दिया जाने वाला कर), महिषकर, उष्ट्रकर, पशुकर, छगली कर (बकरा),

तृणकर, पलालकर (पुवाल), बुसकर (भूसा), काष्ठकर, अंगारकर, सीताकर (हल पर लिया जाने वाला कर), उंबरकर (देहली अथवा प्रत्येक घर से लिया जाने वाला कर), जंघकर (अथवा जंगाकर – चारागाह पर लिया जाने वाला कर), अलीवर्दकर (बैल), घटकर, चर्मकर, चुल्लगकर (भोजन) और अपनी इच्छा से दिया जाने वाला कर था।[८६] ये कर गाँवों में ही वसूल किये जाते थे,[८७] नगर (नःकर) इनसे मुक्त रहते थे। कर वसूल करने वाले कर्मचारियों के सम्बन्ध में बृहत्कल्पभाष्य में कोई सामग्री उपलब्ध नहीं होती है।[८८]

राज्य कर की उगाही

राजा को कर न देना अपराध था। बृहत्कल्पभाष्य में उल्लेख है कि सोपारक नगर के निगमों पर राजा द्वारा लगाये गये कर को न देने से क्रुद्ध राजा ने उन्हें मार डालने का दण्ड दिया था।[८९]

व्यापार कर

बृहत्कल्पभाष्य से ज्ञात होता है कि वस्तु के क्रय-विक्रय के भाव, मार्ग व्यय, यानवाहनों का व्यय और व्यापारी के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त धन छोड़कर कर लगाया जाता था।[९०] कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि तौलकर बिकने वाली वस्तुओं पर १/२० गिनकर बेची जाने वाली वस्तुओं पर १/११ और नापकर बेची जाने वाली वस्तुओं पर १/१६ शुल्क लगता था।[९१]

इस प्रकार यह ग्रन्थ तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों- जिसमें राजाओं के अधिकार और उनके कर्त्तव्य, शासनव्यवस्था देश एवं राज्य की सुरक्षा तथा राजस्व प्राप्ति के उपायों का यथास्थान वर्णन किया गया है।

सन्दर्भ

१. बृहत्कल्पभाष्य, गा. २७५९-६४

२. वही, गा. ९४०

३. महाभारत, ३.१३.७

४. बृ.क.सू.भा., ४९६२-६४, तथा व्यवहार भाष्य, १५५२, जगदीश चन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. ४७

५. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३७६०-७१; तुलना कीजिए। सानुवाद व्यवहारभाष्य, संपा. मुनि दुलहराज जै.वि.भा., २००४, १८९५-९६, पृ. ४०

६. व्यवहारभाष्य, ४.१६८-६९

७. जगदीशचन्द्र जैन, जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. ५०

८. सानुवाद व्यवहारभाष्य, ३७४८

९. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ५१५३, देखें कथा परिशिष्ट, ११७-११८

१०. अर्थशास्त्र, अनुवादक- सामशास्त्री, मैसूर, १९०८, पृ. ४०

११. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ५१४४

१२. वही, गा. ५१३८, ५१६७

१३. वही, गा. ५१६७

१४. मधु सेन, ए कल्चरल स्टडी ऑफ दी निशीथचूर्णि, पृ. ३८

१५. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ९९१ और उसके आगे

१६. वही, गा. ५९२३

१७. वही, गा. ३२७५

१८. सोमदेव, नीतिवाक्यामृत, माणिकचंद दिगंबर जैन ग्रंथमाला, बम्बई, १९७९, पृ. १२८

१९. मधु सेन, ए कल्चरल स्टडी ऑफ निशीथचूर्णि, पृ. ३९

२०. बृहत्कल्पभाष्य, पीठिका गा. ३७८-३८३

२१. वही, गा. १७७६

२२. वही, गा. १०९६ और आगे

२३. वही, गा. ११०३-११०८

२४. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ. ५७

२५. जगदीशचन्द्र जैन, जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. ११६

२६. निशीथभाष्य १३.४४०१-२

२७. अनुयोगद्वार टीका, सूत्र, १९, पृ. २१

२८. वही, गा. ११००

२९. बृहत्कल्पभाष्य, गा. २१९९

३०. वही, गा. ४४५८ और इसकी वृत्ति

३१. वही, गा. २८०३

३२. वही, गा. २२८१

३३. बृहत्कल्पभाष्य, गा. २६५५; व्यवहारभाष्य, ७.४४३

३४. वसुदेवहिण्डी, १.२९५

३५. न्यायकर्ता के सम्बन्ध में मृच्छकटिक ९, पृ. २५६ में कहा है–

शास्त्रज्ञः कपटानुसार कुशलो..... राज्ञश्च कोपापट्टः

शास्त्रज्ञः कपटानुसारकुशलो वक्ता न च क्रोधनस्तुल्यो

मित्रपरस्वकेषु चरितंदृष्टवैव दत्तोत्तरः।

क्लीबान्पालयिता शठान्व्यथयिता धर्म्यो न लोभान्वितो, द्वार्भावे परतत्ववद्धहृदयो राज्ञश्च कोपापट्टः।।

३६. मनुस्मृति, ८.४-७.१

३७. बृहत्कल्पभाष्य, भाग-५, गा. ४९२३-२५

३८. बृहत्कल्पभाष्य, भाग-४, गा. ३९०३ आदि और भाग-६, गा. ६२७५ बौद्ध जातकों में ऐसे चोरों का उल्लेख है जो चोरी का धन गरीबों में बाँट देते और लोगों का कर्ज चुका देते। पेसनक (प्रेषणक=संदेशा भेजने वाले) चौर पिता-पुत्र दोनों को बन्दी बनाकर रखते, तथा पिता से धन प्राप्त होने के पश्चात् ही पुत्र को छोड़ देते (पानीय जातक ४५९, पृ. ३१५)। उद्यान-पोषक चोर श्रावस्ती के उद्यान में घूमते-फिरते थे। उद्यान में किसी सोते हुए व्यक्ति को देखकर वे उसे ठोकर मारते। यदि ठोकर लगने पर वह सोया रहता तो वे उसे लूट लेते; दिव्यावदान, पृ. १७५; महावग्ग १.३३.९१,पृ. ७८ में ध्वजावद्ध चोरों का उल्लेख है। तथा देखिए बी.सी. लाहा, इण्डिया डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टैक्स्ट्स ऑव बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म, पृ. १७२ इत्यादि।

३९. बृहत्कल्पभाष्य, गा. २७७५

४०. व्य. हा. भा., पृ. ७१; निशीथचूर्णि पीठिका,पृ. ९०

४१. उत्तराध्ययनचूर्णि पृ. १७४

४२. नि. भा., २.१३३५

४३. पुरुषवध के लिए तलवार उठाने पर ८० हजार रुपये जुर्माना किया जाता, प्रहार करने पर मृत्यु न हो तो भिन्न-भिन्न देशों की प्रथा के अनुसार जुर्माना देना पड़ता, तथा यदि मृत्यु हो जाय तो भी हत्यारे को भी अस्सी हजार रुपयों का दण्ड भरना पड़ता; –बृहत्कल्पभाष्य, गा. ५१०४

४४. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ६२४४-४९

४५. वही, गा. २४८९; तथा नि. भा., १६.५१३९ की चूर्णि

४६. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३२५९-३२६०

४७. जगदीश चन्द्र जैन, भा.सा. में भा.स.

४८. वही, गा. ९००, ९०४-५

४९. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, भारतीय भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, १९५९, पृ. १७८

५०. वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्र भाषापरिषद्, पटना, १९५३

५१. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ६२४४। कौटिल्य ने भी सेना को दण्ड ही कहा है- अर्थशास्त्र।

५२. वही, गा. ६२४४ की वृत्ति।

५३. मधु सेन, ए कल्चरल स्टडी ऑफ निशीथ चूर्णि, पृ. ४७

५४. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ५५९३

५५. वही, गा. ६३२८

५६. उत्तराध्ययन ९, पृ. १३५

५७. जगदीश चन्द्र जैन, जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. ९५

५८. स्थानांगसूत्र, ४.२३६

५९. बृहत्कल्पभाष्य, ११४७

६०. वही, ११४७

६१. वही, २३१

६२. नि.चू., ९.२३-२५ तथा चूर्णी।

६३. आवश्यकचूर्णि, २, पृ. १६१

६४. उत्तराध्ययन टीका ३, पृ. ६०

६५. व्यवहारभाष्य, १०४८४

६६. दशवैकालिक, २.१०; उ. ध्य. टी. ४, पृ. ८५

६७. औपपातिक, ३०, पृ. ११७

६८. राजप्रश्नीय, ३, पृ. १७

६९. बृहत्कल्पभाष्य, गा. २०१०

७०. वही, गा. २०१६

७१. अर्थशास्त्र, १०.४.१५३-१५४.१४

७२. वसुदेवहिण्डी, प्र. ख. २८५

७३. ज्ञाताधर्मकथा की टीका में आकीर्ण घोड़ों को 'समुद्रमध्यवर्ती' बताया है।

७४. उत्तराध्ययन ११.१६ और टी.। स्थानांग (४.३२७) में कन्थक घोड़ों के चार भेद हैं।

७५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका, २, पृ. ११०-अ; उ. ध्य. टी. ३, पृ. ५७ अ; तथा देखिए रामायण १.६२८

७६. बृ.क.भा., ३७४७

७७. बृहत्कल्पभाष्य, गा. २०६६

७८. वही, गा. ३९५९

७९. वही, गा. ११२३

८०. उत्तराध्ययन, गा. ३५६

८१. बृ.क.सू.भा., गा. ५५९

८२. वही, गा. ९४० व उसकी वृत्ति 'परिहीणकोशस्य च विनष्टमेव राज्यम्।'

८३. आव. चू. २.२००

८४. अत्थुप्पत्तिहेतवो जो ते दूसेंतस्म अत्थुप्पत्तीण भवति, अत्यामावे कोसविहणो राया विणस्सति; –नि.चू., ३.४८०

८५. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ४७७० व इसकी वृत्ति; पिण्डनिर्युक्ति टीका, ८७, पृ. ३२-अ में प्रत्येक घर से प्रतिवर्ष दो द्रम्म लिए जाने का उल्लेख है।

८६. आव.निर्यु. १०७८ आदि, हरिभद्र टी. तथा देखिए मलयगिरि की टी. भी १०८३-४, पृ. ५९६१ कौटिल्य के अर्थशास्त्र २.६.२४.२ में बाईस प्रकार के राजकर बताये गये है। बृहत्कल्पभाष्य, की वृत्ति में भी १८ प्रकार के करों का उल्लेख किया गया है–बृहत्कल्पभाष्य, भाग-२, गा. १०८८

८७. बृहत्कल्पभाष्य, गा. १०८८

८८. नत्थेत्थ करो नगरं (ब्र.क.भा., भाग-२, गा. १०८९); अभयदेव, व्या. प्र. टी., ३.६, पृ. १०६) बेचरदास अनुवाद)। अभयदेव ने ग्राम का निम्नलिखित लक्षण किया है– ग्रसति बुद्धयादीन् गुणान् इति ग्रामः। यदि वा गम्यः शास्त्रप्रसिद्धानां अष्टादशकराणाम्।

८९. बृहत्कल्पभाष्य, गा. २५०६-७

९०. संकादीपपरिसुद्धे, सइलामे कुणइ पणिओ विद –बृहत्कल्पभाष्य, भाग-२, गा. ९५२

९१. कौटिल्य अर्थशास्त्र, २.६.२४

*

प्रस्तुत ग्रन्थ में भी हुआ है। कहा गया है कि जब ज्येष्ठ भ्राता ने यशोभद्रा के पति के ऊपर आक्रमण कर दिया तब वह श्रावस्ती के जंगल की ओर प्रस्थान कर गई और वहीं जैनसंघ में प्रव्रजित हो गई।[२]

उदारीकरण के बावजूद कुछ लोगों को जैनसंघ में शामिल किये जाने का निषेध किया गया है। पंडक, क्लीव और वातिज इसी प्रकार के लोग थे जिन्हें प्रव्रज्या के लिए अयोग्य बतलाया गया है। पंडक के छह लक्षणों की गणना भी की गई है- महिला स्वभाव, स्वरभेद, वर्ण-भेद, महन्भेद (प्रलम्ब अंगादान), मृदुवाक् और सशब्द और अफेनक मूत्र। पंडक के दो भेद बतलाये गये हैं- दूषित पंडक और उपघात पंडक्। दूषित पंडक के पुनः दो भेद बतलाये गये हैं- आसिक्त और उपसिक्त। उपघात पंडक के भी दो भेद किये गये हैं- वेदोपघातपंडक और उपकरणोपघात पंडक। क्लीव के बारे में बतलाया गया है कि जिसे मैथुन के विचार मात्र से अंगादान में विकार उत्पन्न हो जाय और बीजबिन्दु गिरने लग जाय वह क्लीव है। वातिज उसे कहा गया है जिसकी मनःस्थिति ठीक नहीं होती है। बृहत्कल्पसूत्र में पंडक आदि को अपवाद स्वरूप दीक्षा देने का भी विधान किया गया है, परन्तु उनके रहन-सहन आदि की विशेष व्यवस्था करने की हिदायत दी गयी है। इस ग्रन्थ में पंडक, क्लीव और वातिज को न केवल प्रव्रज्या के लिए अयोग्य ठहराया गया है अपितु उन्हें मुंडन, शिक्षा, उपस्थापना, सहभोजन, सहवास आदि के लिए भी अनुपयुक्त बतलाया गया है। (बृ.क.सू.भा. ५१३८-५१६७) इसी प्रकार दुष्ट, मूढ़ और व्युद्ग्राहित (विपरीत बोध में दृढ़) प्रव्रज्या के लिए अनधिकारी माने गये हैं[३] और अदुष्ट, अमूढ़ और अव्युद्ग्राहित प्रव्रज्या, उपदेश आदि के लिए अयोग्य माने गये हैं।

सम्मत्ते वि अजोग्गा, किमु दिक्खण-वायणासु दुट्ठादी ।
दुस्सन्नप्पारंभो, मा मोह परिस्समो होज्जा ।।[४]

स्थानांगसूत्र में तो ऐसे बीस कारणों का उल्लेख है जिसके आधार पर किसी स्त्री या पुरुष को संघ में प्रवेश से मना किया जा सकता था।[५] इन बीस कारणों में गर्भिणी को भी शामिल कर उसे दीक्षा से वंचित कर दिया गया है। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि भाष्यकार के समय में जैनसंघ के प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ाने के लिए और जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए परिस्थितिजन्य छूट दिये गये और अपवादों का विधान किया गया। केशी एक ऐसा ही बालक था जो भिक्षुणी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था।[६]

प्रस्तुत ग्रन्थ में भी हुआ है। कहा गया है कि जब ज्येष्ठ भ्राता ने यशोभद्रा के पति के ऊपर आक्रमण कर दिया तब वह श्रावस्ती के जंगल की ओर प्रस्थान कर गई और वहीं जैनसंघ में प्रव्रजित हो गई।[२]

उदारीकरण के बावजूद कुछ लोगों को जैनसंघ में शामिल किये जाने का निषेध किया गया है। पंडक, क्लीव और वातिज इसी प्रकार के लोग थे जिन्हें प्रव्रज्या के लिए अयोग्य बतलाया गया है। पंडक के छह लक्षणों की गणना भी की गई है- महिला स्वभाव, स्वरभेद, वर्ण-भेद, महन्‌भेद (प्रलम्ब अंगादान), मृदुवाक् और सशब्द और अफेनक मूत्र। पंडक के दो भेद बतलाये गये हैं- दूषित पंडक और उपघात पंडक़। दूषित पंडक के पुन: दो भेद बतलाये गये हैं- आसिक्त और उपसिक्त। उपघात पंडक के भी दो भेद किये गये हैं- वेदोपघातपंडक और उपकरणोपघात पंडक। क्लीव के बारे में बतलाया गया है कि जिसे मैथुन के विचार मात्र से अंगादान में विकार उत्पन्न हो जाय और बीजबिन्दु गिरने लग जाय वह क्लीव है। वातिज उसे कहा गया है जिसकी मन:स्थिति ठीक नहीं होती है। बृहत्कल्पसूत्र में पंडक आदि को अपवाद स्वरूप दीक्षा देने का भी विधान किया गया है, परन्तु उनके रहन-सहन आदि की विशेष व्यवस्था करने की हिदायत दी गयी है। इस ग्रन्थ में पंडक, क्लीव और वातिज को न केवल प्रव्रज्या के लिए अयोग्य ठहराया गया है अपितु उन्हें मुंडन, शिक्षा, उपस्थापना, सहभोजन, सहवास आदि के लिए भी अनुपयुक्त बतलाया गया है। (बृ.क.सू.भा. ५१३८-५१६७) इसी प्रकार दुष्ट, मूढ़ और व्युद्ग्राहित (विपरीत बोध में दृढ़) प्रव्रज्या के लिए अनधिकारी माने गये हैं[३] और अदुष्ट, अमूढ़ और अव्युद्ग्राहित प्रव्रज्या, उपदेश आदि के लिए अयोग्य माने गये हैं।

सम्मत्ते वि अजोग्गा, किमु दिक्खण-वायणासु दुट्ठादी ।
दुस्सन्नप्पारंभो, मा मोह परिस्समो होज्जा ।।[४]

स्थानांगसूत्र में तो ऐसे बीस कारणों का उल्लेख है जिसके आधार पर किसी स्त्री या पुरुष को संघ में प्रवेश से मना किया जा सकता था।[५] इन बीस कारणों में गर्भिणी को भी शामिल कर उसे दीक्षा से वंचित कर दिया गया है। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि भाष्यकार के समय में जैनसंघ के प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ाने के लिए और जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए परिस्थितिजन्य छूट दिये गये और अपवादों का विधान किया गया। केशी एक ऐसा ही बालक था जो भिक्षुणी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था।[६]

चतुर्थी और अष्टमी तिथियों को छोड़ दीक्षा-समारोह किसी भी शुभ-दिन में करने का विधान किया गया है।[७] यह समारोह शालि अथवा ईख के खेत, पुष्करिणी अथवा शिखरयुक्त चैत्यगृह के निकट मनाये जाने चाहिए। दीक्षा के समय साधु को रजोहरण, गोच्छक और प्रतिग्रह ये तीन प्रकार के उपकरण और तीन पूरे वस्त्र धारण करने का और साध्वियों को चार पूरे वस्त्र और साधुओं वैसे ही तीन उपकरण लेने का विधान किया गया है। बृहत्कल्पभाष्य में यह भी उल्लेख है कि रजोहरण, गोच्छक आदि योग्य दुकानों (कुत्रिकापण) से खरीदी जानी चाहिए। प्रव्रज्या के समय दीक्षार्थी द्वारा चैत्य, आचार्य, उपाध्याय और भिक्षु की और दीक्षार्थिनी द्वारा प्रवर्तिनी, अभिषेका या उपाध्याया, स्थविरा और भिक्षुणी की पूजा-सत्कार करने की विधि की भी चर्चा की गई है।[८]

आहार

जैन भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए आहार संबंधी प्रायः समान नियमों की व्यवस्था थी। 'बृहत्कल्पसूत्र' में उल्लेख है कि जिस स्वामी के उपाश्रय (शय्यातर) में रह रहे हों, उसके घर से भिक्षा ग्रहण नहीं करना चाहिए।[९] दूसरे के घर का आहार भी यदि शय्यातर के यहाँ आ जाय, तब भी वे उसके यहाँ से भोजन नहीं ले सकते। भिक्षा-वृत्ति के लिए भिक्षुणी को अकेले जाना निषिद्ध था। उसे दो या तीन भिक्षुणियों के साथ जाने का विधान किया गया था।[१०] भिक्षुणी को विषम मार्ग तथा पेड़ों या अनाज के डण्ठलों से युक्त मार्ग पर चलने का निषेध था। यदि वर्षा हो रही हो, घना कुहरा पड़ रहा हो या टिड्डी आदि जीव-जन्तु इधर-उधर घूम रहे हों तो ऐसे समय में भिक्षा वृत्ति के लिए जाने का निषेध किया गया था।[११]

जैन साधु या साध्वी को दिन में केवल एक बार भोजन करने का विधान था। प्रथम प्रहर में लाये हुये भोजन को अंतिम प्रहर तक रखना निषिद्ध था। यह निर्देश दिया गया है कि ऐसे आहार को न तो वे स्वयं खायें और न तो किसी दूसरे को दें अपितु किसी एकान्त स्थान में उस आहार का परित्याग कर दें।[१२]

इसी प्रकार यदि शंकाओं से युक्त भोजन स्वीकार कर लिया गया हो तो उसे न स्वयं ग्रहण करना चाहिए और न किसी दूसरे को देना चाहिए। यदि कोई अनुपस्थापित शिष्या (अणुट्ठावियए) हो तो उसे दिया जा सकता है।[१३]

भिक्षा के लिए अपने उपाश्रय से बहुत दूर जाने का विधान नहीं था। 'बृहत्कल्पभाष्य'[१४] के अनुसार भिक्षुणी एक कोस सहित एक योजन का अवग्रह करके रह सकती थी अर्थात् २.५ कोस जाना और २.५ कोस लौटना इस प्रकार पाँच कोस आ-जा सकती थी।

विशेष परिस्थितियों को छोड़ भिक्षु और भिक्षुणियों को ताड़, नारियल, लौकी, कैथ, आंवला और आम्र के फलों को ग्रहण करने का निषेध था।[१५] उन्हें रात्रि में अशन-पान आदि ग्रहण करना अकल्प्य था।[१६] इसी तरह उन्हें परिवासित (रात्रि में रखा हुआ) आहार, आलेपन, तेल आदि भी ग्रहण न करने का विधान किया गया है।[१७] 'बृहत्कल्पभाष्य' में पुलाक प्रकार के भोजन का उल्लेख करते हुए साध्वियों को निर्देश दिया गया है कि जिस दिन उन्हें इस प्रकार का भारी एवं गरिष्ठ भोजन प्राप्त हो तो वे गोचरी के लिए दुबारा न जांय।[१८]

वस्त्र

'बृहत्कल्पसूत्र' में जैन भिक्षु-भिक्षुणियों को निम्न पाँच प्रकार के वस्त्रों को धारण करने का विधान था।[१९]

१. जांगिक- भेड़ आदि के ऊन से निर्मित वस्त्र।
२. भांगिक- अलसी आदि के छाल से निर्मित वस्त्र।
३. सानक- सन (जूट) से निर्मित वस्त्र।
४. पोतक- कपास से निर्मित वस्त्र।
५. तिरीट (तिमिर) वृक्ष की छाल से निर्मित वस्त्र।

चमड़े से निर्मित वस्त्र को धारण करना चाहे वह रोमयुक्त हो या रोमहीन, भिक्षु-भिक्षुणियों दोनों के लिए निषिद्ध था।[२०] यद्यपि कुछ विशेष परिस्थितियों में भिक्षु को इसको धारण करने की अनुमति दी गयी है।[२१] आचारांग में भी भिक्षुणियों को चमड़े का वस्त्र धारण करने का निषेध किया गया है।[२२]

'बृहत्कल्पभाष्यकार' ने भिक्षुणियों के लिए निषेध का कारण बताते हुए कहा है कि चमड़े पर बैठने से भिक्षुणियों के मन में गृहस्थ-जीवन में उपयोग की गयी कोमल-शय्या की याद आ जायेगी, फलस्वरूप उनमें आचारिक शीथिलता का आ जाना सम्भव है।[२३]

'बृहत्कल्पसूत्र'[२४] में भिक्षुणी के गुप्तांग को ढंकने के लिए निम्न दो और वस्त्रों का उल्लेख है-

(१) उग्गहणन्तगं, (२) उग्गहपट्टगं।

'बृहत्कल्पभाष्य तथा ओघनिर्युक्ति' भिक्षुणी के लिए ग्यारह वस्त्रों[२५] का विधान करते हैं जिनमें छः शरीर के निचले हिस्से को ढँकने के लिए पहने जाते थे। भिक्षुणियों के लिए प्रथम समवसरणकाल (अर्थात् आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा से कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा तक) में वस्त्र ग्रहण करना वर्जित था। वे द्वितीय समवसरणकाल (अर्थात् मार्ग-शीर्ष कृष्णा प्रतिपदा से आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा तक) में ही वस्त्र (या अन्य उपकरण) ग्रहण कर सकती थीं।[२६] स्पष्ट है कि भिक्षु-भिक्षुणियों को वर्षाकाल में वस्त्र ग्रहण करना निषिद्ध था। भिक्षुणी को रात्रि में या सन्ध्याकाल में वस्त्र की गवेषणा करने का निषेध किया गया था, भले ही वस्त्र को धोकर, रंगकर या मुलायम बनाकर रखा गया हो।[२७] भिक्षुणी गृहस्थों से वस्त्र प्राप्त करने में अत्यन्त सतर्कता का पालन करती थी। वह दाता के मनोभावों का सूक्ष्मता से अध्ययन कर ही वस्त्र ग्रहण करती थी। यदि कोई गृहस्थ वस्त्र देने की इच्छा प्रकट करे, तो भिक्षुणी को यह निर्देश दिया गया था कि वह सागरकृत करके ही वस्त्र ले (सागरकडं गहाय) तथा प्रवर्तिनी की अनुमति मिलने पर ही उसे उपयोग में लाये[२८] अर्थात् यदि गृहस्वामी वस्त्र-पात्र दे तो साध्वी को यह कहकर लेना चाहिए कि आचार्य इसे रखेंगे अथवा मुझे या अन्य साध्वी को देंगे तो रखा जायेगा अन्यथा ये वस्त्रपात्र लौटा दिये जायेंगे। भाष्यकार के अनुसार साध्वी किसी भी गृहस्थ से स्वयं वस्त्र न ले, अपितु उसके वस्त्र की आवश्यकता की पूर्ति आचार्य, उपाध्याय अथवा प्रवर्तिनी करें। वे स्वयं गृहस्थ के यहाँ से वस्त्र लायें और सम्यक् परीक्षा के पश्चात् साध्वी को उपयोग करने के लिए दें।[२९]

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को वस्त्र की चिलिमिलिका-परदा रखने और उसका प्रयोग करने का विधान किया गया है।[३०] चिलिमिलिका के स्वरूप वर्णन के लिए भाष्यकारों ने उसे पाँच प्रकार के बताये हैं- सूत्रमयी सूत से, रज्जुमयी रस्सी से, वल्कलमयी-छाल से, दण्डकमयी शालाकाओं से और कटकमयी चिलमिलिका बाँस से बनी होती थी।[३१]

श्रमण-श्रमणियों को रात्रि में वस्त्र ग्रहण करने का निषेध था।[३२] इसी प्रकार रंगे हुए कपड़े (कृत्स्नवस्त्र)[३३] और बिना फाड़े हुए वस्त्र (अभिन्नवस्त्र)[३४] तथा सलोमचर्म[३५] ग्रहण करना निषिद्ध था।

जैन साधु-साध्वियों को वस्त्रों के अतिरिक्त निम्न उपकरणों को भी रखने का विधान किया गया है- पात्र, पात्रबंध, पात्रस्थापन, पात्रकेसरिका, मात्रक और कमठक।[३६] इसके अतिरिक्त उन्हें सूई, नखहरणी, कर्णशोधनी, दन्तशोधनी आदि

भी रखने का विधान था।[३७] रजोहरण के पाँच प्रकार भी बताये गये हैं- और्णिक (ऊन का), औष्ट्रिक (ऊँट के रोम का), सानक (सन का), वच्चकाचिप्पक (पेड़ की छाल का) और मुंजचिप्पक (सरपत या मूंज का)।[३८]

उपाश्रय

घास आदि के बने हुए घरों (उपाश्रय) में जिनमें मनुष्य अच्छी तरह खड़ा हो सकता हो, साधु-साध्वियों के हेमन्त से ग्रीष्म ऋतु के बीच रहने का विधान किया गया है। इसी तरह जिन उपाश्रयों की उँचाई मनुष्य के दो हाथ से अधिक हो उनमें उनके वर्षा ऋतु में ठहरने का विधान किया गया है।[३९] वर्षावास करने के बाद श्रमण-श्रमणियों को शेष आठ महीने ग्राम आदि में विचरण करते हुए रुकने की जगह यानी उपाश्रय खोजनी पड़ती थी। यदि ग्राम, नगर आदि दुर्ग के अन्दर और बाहर इन दो भागों में बसे हुए हों तो अन्दर और बाहर मिलाकर एक क्षेत्र में दो मास भिक्षु रह सकते हैं।[४०] इसी तरह की स्थितियों में साध्वियों को चार माह तक रहने का विधान किया गया है।[४१] एक चहारदिवारी और एक द्वार वाले ग्राम, नगर आदि में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को एक साथ रहना अकल्प्य है।[४२] अतः श्रमण-श्रमणियों को अनेक चहारदिवारी और अनेक द्वार वाले ग्राम, नगर आदि में रहना चाहिए और साथ ही उन स्थानों में रहना चाहिए जहाँ भिक्षा-भूमि, स्थंडिल भूमि, विहार भूमि आदि भिन्न हों।[४३] श्रमण-श्रमणियों को घर के अन्दर अथवा दो घरों के बीच में रहना, सोना, बैठना आदि भी वर्जित है।[४४]

'बृहत्कल्पसूत्र' में ऐसे उपाश्रय में भिक्षुणी को ठहरने की अनुमति दी गयी है, जिसमें आने जाने का मार्ग गृहस्थ के घर के मध्य में से होकर हो।[४५] इसी प्रकार भिक्षुणी के प्रतिबद्धशय्या वाले उपाश्रय में रहने का विधान है।[४६] प्रतिबद्धशय्या वह है जिसकी दीवालें अथवा उसका कोई भाग गृहस्थ के मकान से जुड़ा हो। इन विरोधी नियमों का समाधान करते हुए कहा गया है कि साध्वियों को ऐसे उपाश्रय में ठहरने का अभिप्राय इतना ही है कि यदि निर्दोष उपाश्रय न मिले तो साध्वी उसमें ठहर सकती है।[४७] ऐसे उपाश्रय जिनमें पितामही, मातामही, बुआ, बहन, लड़की आदि रहती हो उनमें भी साध्वी रह सकती है। क्योंकि उनके साथ रहने में भिक्षुणियों की संयम विराधना की कोई संभावना नहीं रहती है।[४८] आपणगृह, रथ्यामुख, शृङ्गाटक, चतुष्क, चत्वर, अंतरापण आदि के निकट बने हुये उपाश्रय में भिक्षुणियों के रहने का निषेध किया गया है क्योंकि ऐसे सार्वजनिक स्थानों में बने हुए उपाश्रयों में रहने वाली श्रमणियों के मन में युवक, वेश्याएँ,

राजा आदि अलंकृत व्यक्तियों को देखने से अनेक दोषों का उद्भव होता है। यदि किसी कारण से इस प्रकार के उपाश्रय में रहना ही पड़े तो उसके लिए आचार्य ने विविध यातनाओं का विधान भी किया है।[४९]

इसी प्रकार वर्षा ऋतु के चार महीनों को छोड़कर ग्राम, नगर, खेत, कर्बट, मडम्ब, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, संबाध, घोष, अंशिका और पुटभेदन में एक माह से अधिक न रहने का श्रमण-श्रमणियों को निर्देश दिया गया है। श्रमणियों को बिना द्वार के खुले उपाश्रय में नहीं रहना चाहिए। कभी द्वारयुक्त उपाश्रय अप्राप्त हो तो खुले उपाश्रय में परदा लगाकर रहने का विधान किया गया है।[५०] श्रमणी के बजाय कोई अन्य व्यक्ति उपाश्रय में न घुस जाए इसके लिए उसके परीक्षा करने की विधि, प्रतिहारसाध्वी द्वारा उपाश्रय के द्वार की रक्षा, शयन सम्बन्धी यतनाएँ, रात्रि के समय कोई मनुष्य उपाश्रय में घुस जाए तो उसे बाहर निकालने की विधि, विहार आदि के समय मार्ग में आने वाले गाँवों में सुरक्षित द्वार वाला उपाश्रय न मिले तथा अनपेक्षित भयप्रद घटना घट जाए तो तरुण और वृद्ध साध्वियों को किस प्रकार उसका सामना करना चाहिए, इसका निर्देश है।[५१]

साधु बिना दरवाजे के उपाश्रय में रह सकते हैं। उन्हें उपाश्रय का द्वार बन्द नहीं करना चाहिए किन्तु अपवादरूप वे वैसा कर सकते हैं।[५२] श्रमणियों के लिए घटीमात्रक (घड़ा) रखना व उसका उपयोग करना विहित है किन्तु श्रमणों के लिए घटीमात्रक रखना अथवा उसका उपयोग करना निषिद्ध है। घटीमात्रक रखने से साधुओं को दोष लगते हैं। अपवादरूप में उनके लिए घटीमात्रक रखना वर्जित नहीं है। श्रमण-श्रमणियाँ विशेष कारणों से घटीमात्रक रखते हैं व उसका प्रयोग करते हैं। घटीमात्रक पास न होने की अवस्था में उन्हें विविध यातनाओं का सेवन करना पड़ता है।[५३] जिस उपाश्रय के समीप गृहस्थ रहते हों वहाँ निर्ग्रन्थियों का निवास विहित है।[५४]

निर्ग्रन्थों को निर्ग्रन्थियों के और निर्ग्रन्थियों को निर्ग्रन्थ के उपाश्रय में शयन, आहार, विहार, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि करना वर्जित माना गया है। किसी कारण से एक-दूसरे के उपाश्रय में प्रवेश करने का प्रसंग उपस्थित होने पर एतद्विषयक आज्ञा विधि और कारणों का भी उल्लेख किया गया है।[५५]

साधु-साध्वियों को चित्रकर्म वाले उपाश्रय में न ठहरने का विधान किया गया है। इस विषय का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने निर्दोष और सदोष चित्रकर्म

का स्वरूप, आचार्य, उपाध्याय आदि की दृष्टि से चित्रकर्म वाले उपाश्रय में रहने से लगने वाले दोष और प्रायश्चित्त, आपवादिक रूप से चित्रकर्मयुक्त (सचित्र) उपाश्रय में रहना पड़े तो उसके लिए विविध यातनाएँ आदि बातों का स्पष्टीकरण भी किया है।[५६]

श्रमण-श्रमणियों को सागारिक के सम्बन्ध वाले उपाश्रयों,[५७] गृहपति निवास के मध्य स्थित उपाश्रयों[५८] और जिन उपाश्रयों में सचेतन धान्य बिखरे हों उनमें तथा जहाँ कुराविकटकुंभ, शीतोदकविकटकुंभ, ज्योति, दीपक, पिंड, दुग्ध, नवनीत आदि हों[५९] उनमें रहने का निषेध किया गया है।

दिनचर्या

उत्तराध्ययनसूत्र[६०] में जैन भिक्षु-भिक्षुणियों की दिनचर्या का विस्तार से वर्णन किया गया है। दिन और रात को चार भागों में विभाजित कर उनका कार्यक्रम निश्चित किया गया था और उसी के अनुसार उन्हें जीवन व्यतीत करने का निर्देश दिया गया था। दिन के चार भागों में प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में भिक्षा-गवेषणा एवं भोजन और चतुर्थ प्रहर में स्वाध्याय करने का विधान था। दिन के समान रात्रि के भी चार विभाग किये गये थे रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में शयन तथा चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय करने का विधान था। इस प्रकार दिन-रात की चर्या में स्वाध्याय पर सबसे अधिक बल दिया गया है। उपाश्रयों में अध्ययन का कार्य उपाध्याय एवं उपाध्याया द्वारा सम्पन्न किया जाता था। जैन साध्वियों की शिक्षा उपाध्याया द्वारा सम्पन्न की जाती थी। वे श्रमण-श्रमणियों को आगम साहित्य, व्याकरण, हेतुशास्त्र, दर्शनशास्त्र, निमित्तशास्त्र आदि की शिक्षा देते थे।[६१] अध्ययन को रोचक एवं बोधगम्य बनाने के लिए कथा-कहानियों, गीतों, गाथाओं आदि के उदाहरण भी प्रस्तुत किये जाते थे।[६२] किसी दार्शनिक विषय पर जैन श्रमणों एवं अन्य मतावम्बलियों से वाद-विवाद प्रतियोगिता भी होती थी।[६३] साधु को अध्ययन के लिए अन्यतीर्थिकों के गणों में जाने का उल्लेख है जो पुनः अपने गण में आकर वादकुशल परिषध का समायोजन करता है तथा परतीर्थिकों को निरुत्तर करता है।[६४]

विहार-यात्रा

वर्षाकाल के चार महीने छोड़कर शेष आठ महीनों (ग्रीष्म तथा हेमन्त ऋतु में) में श्रमण-श्रमणियों को एक ग्राम से दूसरे ग्राम में (गामाणुगामं) विचरण

करने का निर्देश दिया गया था।[६५] 'बृहत्कल्पसूत्र' में भिक्षु-भिक्षुणियों को पूर्व दिशा में अंग से मगध तक, दक्षिण दिशा में कौशाम्बी तक, पश्चिम दिशा में स्थूण (स्थानेश्वर) तक उत्तर दिशा में कुणाल (श्रावस्ती) देश तक यात्रा करने का निर्देश दिया गया है।[६६] भिक्षुणी को यात्रा के समय ग्राम में एक रात तथा नगर में पाँच रात तक निवास करने का विधान है।[६७]

भिक्षु-भिक्षुणियों को यद्यपि वैराज्य, अराजक तथा नृपहीन राज्यों के मध्य से यात्रा करने का निषेध किया गया है, किन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में इनमें यात्रा करने की छूट दी है। जैसे- (१) साध्वी के माता-पिता यदि दीक्षा के लिए उद्यत हों, (२) यदि उसके माता-पिता शोक से विह्वल हों, तो उन्हें सान्त्वना प्रदान करने के लिए (३) प्रत्याख्यान (समाधिमरण) की इच्छुक साध्वी यदि अपने गुरु के पास आलोचना के लिए जाय, (४) शास्त्रार्थ के लिए आह्वान करने पर, (५) आचार्य का अपहरण कर लिये जाने पर उनके विमोचन के लिए यात्रा करने की छूट दी गयी है।।[६८]

इसी प्रकार के अन्य कारणों के उपस्थित होने पर उनको यदि आराजक राज्यों से जाना आवश्यक हो तो उन्हें आवश्यक निर्देश दिया गया था। वे सर्वप्रथम सीमावर्ती आरक्षक से इसके लिए अनुमति लें, उसके निषेध करने पर नगर-सेठ से अनुमति लें तथा उसके भी निषेध करने पर सेनापति से तथा अन्त में स्वयं राजा से अनुमति लेने का प्रयत्न करें। इनकी अनुमति प्राप्त होने पर ही ऐसे राज्यों के मध्य से यात्रा करने का विधान था।[६९]

'बृहत्कल्पभाष्यकार' ने विहार योग्य २५.५ आर्य- देशों के नाम भी गिनाये हैं-

नामं ठवणा दविए, खेत्ते जाती कुले य कम्मे य।
भासारिय सिप्पारिय, णाणे तह दंसण चरित्ते ।।[७०]

मगध, अंग, बंग, कलिंग, काशी, कौशल, कुरु, सौर्यपुर (कुशार्त्त), पांचाल (कंपिल्ल), जंगल (अहिच्छला), सौराष्ट्र, विदेह, वत्स (कौशाम्बी), संडिब्भ (नंदीपुर), मलय (भद्दिलपुर), वत्स (वैराट), अच्छ (वरण), दशार्ण, चेदी, सिन्धु-सौवीर, शूरसेन, भृंग (पावा), कुणाल (श्रावस्ती), वर्त्त-मासापुरी पुरिवट्ट (मास?), लाट (कोटिवर्ष) तथा अर्द्धकेकय।[७१]

इन्हीं क्षेत्रों में साधु-साध्वियों को यात्रा करने का निर्देश दिया गया था। इसका कारण यह बताया गया है कि भिक्षु-भिक्षुणियों को इन क्षेत्रों में आहार तथा उपाश्रय की सुलभता रहती है तथा यहाँ के लोग जैन आचार-विचार से परिचित होते हैं। निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को वैराज्य अर्थात् विरुद्ध राज्य में पुनः पुनः गमनागमन निषिद्ध था। यदि किसी जनपद में व्यापारियों का गमनागमन रहता तो साधु को भी उस जनपद में करने की अनुज्ञा थी अन्यथा विरुद्ध राज्य होने से वहाँ गमनागमन का निषेध किया गया है।[७२]

बृहत्कल्पभाष्य[७३] में निम्न सोलह प्रकार की वस्तियों एवं स्थानों का उल्लेख किया गया है-

१. ग्राम- जहाँ राज्य की ओर से अट्ठारह प्रकार के कर लिये जाते हों।
२. नगर- जहाँ अठारह प्रकार के करों में से एक भी प्रकार का कर न लिया जाता हो।
२. खेत- जिसके चारों ओर मिट्टी की दीवाल हो।
४. कर्बट- जहाँ कम लोग रहते हों।
५. मडम्ब- जिसके बाद ढाई कोस तक कोई गाँव न हो।
६. पत्तन- जहाँ सब वस्तुएँ उपलब्ध हों।
७. आकर- जहाँ धातु की खाने हों।
८. द्रोणमुख- जहाँ जल और स्थल को मिलाने वाला मार्ग हो, जहाँ समुद्री माल आकर उतरता हो।
९. निगम- जहाँ व्यापारियों की वसति हो।
१०. राजधानी- जहाँ राजा के रहने के महल आदि हों।
११. आश्रम- जहाँ तपस्वी आदि रहते हों।
१२. निवेश- जहाँ सार्थवाह अपने माल उतारते हों।
१३. सम्बाध- जहाँ कृषक रहते हों अथवा अन्य गाँव के लोग अपने गाँव से धन आदि की रक्षा के निमित्त पर्वत, गुफा आदि में आकर रुके हुए हों।
१४. घोष- जहाँ गाय चराने वाले लोग रहते हों।
१५. अंशिका- गाँव का अर्थ, तृतीय अथवा चतुर्थ भाग।
१६. पुटभेदन- जहाँ दूर-दूर से परगाँव के व्यापारी अपनी चीजें बेचने आते हों।

श्रमण-श्रमणियों को शादी के समय अथवा विकाल में वस्त्रादि ग्रहण नहीं करना चाहिए। रात्रि में वस्त्रादि ग्रहण करने से लगने वाले दोष एवं प्रायश्चित्त, इस नियम से सम्बन्धित अपवाद, गृह भद्र, संयत, प्रान्त चोर द्वारा श्रमण और श्रमणी इन दो में से कोई एक लूट लिया गया हो तो परस्पर वस्त्र आदान-प्रदान करने की विधि, श्रमण-गृहस्थ, श्रमण-श्रमणी, समनोज्ञ-अमनोज्ञ अथवा संविग्र-असंविग्र ये दोनों पक्ष लूट लिये गये हों उस समय एक दूसरे को वस्त्र आदान-प्रदान करने की विधि का उल्लेख किया गया है।[७४]

श्रमण-श्रमणियों के लिए रात्रि में अथवा विकाल में अध्वगमन यानी विहार करना निषिद्ध है। अपवादरूप से रात्रिगमन की छूट दी गई है किन्तु उसके लिए अध्वोपयोगी उपकरणों का संग्रह तथा योग्य सार्थ का सहयोग आवश्यक है।[७५] विहार करते समय मांगकर लाया हुआ शय्या संस्तारक स्वामी को सौंपकर ही विहार करना चाहिए।[७६] इसके अतिरिक्त विहार का समय, शुभ-अशुभ शकुनों को विचार, निवासयोग्य क्षेत्र, मार्ग, पानी, भिक्षाचर्या, चोर आदि की भी जाँच कर लेनी चाहिए।[७७]

शील

साधु-साध्वियों के शील के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि सविशुद्ध कर्मों का आचरण करते हुये मृत्यु का आलिंगन करना उचित है लेकिन अपने शीलव्रत से स्खलित होना उचित नहीं है।

> वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हताशन, न चापि भग्नं चिरसंचिंतं व्रतम् ।
> वरं हि मृत्युः सुविशुद्धकर्मणो न चापि शीलस्खलितस्य चीवितम् ।।[७८]

उपाश्रय में भिक्षुणियों को कभी अकेला नहीं छोड़ा जाता था। उन्हें अकेले आहार, गोचरी या शौच के लिए जाना भी निषिद्ध था।[७९] भाष्य में भिक्षुणियों को धारण किये जाने वाले ११ वस्त्रों का उल्लेख है। यात्रा के समय उन्हें सभी वस्त्रों को धारण करने का निर्देश दिया गया था।[८०] भिक्षुणियाँ अपने प्रयोग के लिए डण्ठल युक्त दुम्बी तथा डण्डेवाला पाद-पोंछन नहीं रख सकती थीं।[८१] इसी प्रकार भोजन में वे अखण्ड केला नहीं ले सकती थीं।[८२] उपाश्रय के सम्बन्ध में भी ऐसी सतर्कता रखी जाती थी। उपयुक्त आवास पाने का वह हर सम्भव प्रयत्न करती थी, परन्तु यदि उपयुक्त आवास नहीं मिलता था तो विवश होकर उसे अन्य उपाश्रयों में रहना पड़ता था। इसके लिए विस्तृत नियमों का प्रतिपादन 'बृहत्कल्पभाष्य' में मिलता है।[८३] संघ के नियमानुसार अकेली भिक्षुणी को अकेले

पुरुष से मिलना निषिद्ध था, इसके निराकरण हेतु ही यह नियम बनाया गया था। 'बृहत्कल्पभाष्य' में दुराचारी व्यक्तियों के प्रवेश के सभी प्रयत्नों को विफल करने का निर्देश दिया गया था।[८४] इसके अतिरिक्त भिक्षु को ऐसे उपाश्रय या शून्यगारों में बाहर से साध्वियों की रक्षा करने को कहा गया था।[८५]

शील के नष्ट होने की सम्भावना तभी रहती थी जब साध्वी के साथ कोई सम्भोग कर ले। निशीथचूर्णि में सम्भोग के कारणों में क्रोध, मान, माया, लोभ, राग आदि का वर्णन किया गया है। ब्रह्मचर्य के खण्डित होने पर साधु-साध्वी को कठोरतम दण्ड देने का विधान किया गया है। ब्रह्मचर्य महाव्रत का भंग चाहे वह किसी परिस्थिति में हुआ हो, बिना प्रायश्चित्त किये उससे छुटकारा नहीं मिल सकता था।[८६]

'बृहत्कल्पभाष्य'[८७] में इस विषय में कुछ उदार नियम मिलते हैं। यदि किसी साध्वी के अपहरण होने पर इसकी सूचना यथाशीघ्र आचार्य को दी जाय, यदि साध्वी गर्भवती हो जाय तो उसे संघ से न निकाला जाय बल्कि दोषी व्यक्ति को दण्ड दिलाने का प्रयास किया जाय। गर्भ की बात न मालूम होने पर उसे श्रावक के यहाँ रख दिया जाय। उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि उस समय साध्वियों के शील भंग होने पर भी जैनसंघ में उनकी सम्मानजनक स्थिति थी। 'बृहत्कल्पभाष्य' में उल्लिखित है कि भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए पाप कर्म न करना ही वस्तुतः परम मंगल है।[८८] **पावाणं जदकरणं, तदेव खलु मंगलं परमं।** भिक्षु जीवन अत्यन्त नियमित और अनुशासनशील था।

मृतक-संस्कार

'बृहत्कल्पभाष्य' में भिक्षुओं के शव-संस्कार का भी उल्लेख हैं। मृतक शरीर को एक कपड़े से ढक दिया जाता था तथा मजबूत बांसों की पट्टियों पर श्मशान-स्थल को ले जाया जाता था। शव को ढँकने के लिये सफेद कपड़ों की तीन पट्टियाँ लगती थीं- एक शव के नीचे बिछाने के लिए, दूसरा शव को ऊपर से ढँकने के लिए तथा तीसरा बांस की पट्टियों से शव को बाँधने के लिए। मलिन या रंगीन कपड़े से शव को ढकना निषिद्ध था। मृत्यु हो जाने पर शव को तुरन्त बाहर ले जाने का विधान था,परन्तु यदि हिमवर्षा हो रही हो, चारों ओर जंगली जानवरों का डर हो, नगर-द्वार बन्द हो गया हो, मृतक अत्यन्त विख्यात हो, मृत्यु के पहले यदि उसने मासादिक उपवास किया हो तथा राजा अपने सेवकों के साथ नगर में आ रहा हो तो शव को कुछ समय तक रोक देने का विधान था।[८९]

देवी-देवता

भारतीयों का देवी-देवताओं में दृढ़ विश्वास था और वे उनके सम्मान में उत्सव मनाते थे। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी अनेक देवी-देवताओं के उत्सवों का वर्णन मिलता है।

इन्द्रमह

वैदिक ग्रंथों में इन्द्र को सर्वोपरि माना गया है। वह समस्त देवताओं में अग्रणी थे। लेकिन इन्द्र को परस्त्रीगामी भी बताया गया है। उसमें उल्लेख है कि एक बार इन्द्र ने उदन्त ऋषि की पत्नी के साथ दुष्कर्म किया जिससे ऋषि ने उसे शाप दे दिया और उसे ब्रह्महत्या का दोष लगा।[९०] जैन ग्रन्थों में भी इन्द्र का उल्लेख मिलता है। बृहत्कल्पभाष्य में हेमपुर में इन्द्रमह मनाये जाने का भी उल्लेख मिलता है। यहाँ इन्द्र-स्थान के चारों ओर नगर की पाँच सौ कुल-बालिकाएँ एकत्रित हो, अपने सौभाग्य के लिए पुष्प और धूप आदि से इन्द्र की पूजा उपासना करती थीं।[९१] हरिवंश पुराण में 'इन्द्रमह' के उत्सव के रूप में इन्द्रध्वज के पूजन का उल्लेख है।[९२] प्राचीन उत्सवों में इन्द्रमह विशेष महत्त्वपूर्ण था।[९३] 'राजतरंगिणी' में भी इन्द्र के उत्सव का वर्णन है।[९४] इन्द्र महोत्सव के समय आमोद-प्रमोद में उन्मत्त रहने के कारण जिन सगे-सम्बन्धियों को आमंत्रित नहीं किया जा सकता था उन्हें भी प्रतिपदा के दिन बुलाया जाता था।[९५] ज्ञाताधर्मकथा, जीवाजीवाभिगम, निशीथसूत्र और अर्थशास्त्र में इन्द्रमह के अतिरिक्त स्कन्दमह, नदीमह, तडागमह, पर्वतमह (पव्वयमह) आदि का भी उल्लेख है जो क्रमशः आषाढ़, आसोज, कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमाओं के दिन मनाया जाता था तथा उस समय लोग खूब खाते-पीते और नाचते गाते थे।[९६] जैन ग्रन्थों में इन्द्रोत्सव का भी उल्लेख मिलता है।[९७]

तीर्थंकर भक्तों में इन्द्र का सर्वोत्तम स्थान माना गया है। तीर्थंकर के गर्भ में आने से छहः माह पूर्व ही रत्नों की वर्षा, एक सहस्र आठ कलशों से स्तवन और केवल ज्ञान के उत्पन्न होने पर समवसरण की रचना, इन्द्र की तीर्थंकर-भक्ति के ज्वलन्त उदाहरण हैं।[९८]

'इन्द्रमहोत्सव' के सम्बन्ध में 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित'[९९] में एक कथा का उल्लेख मिलता है। एक बार ऋषभदेव के पुत्र भरत ने इन्द्रदेव से पूछा कि क्या आप स्वर्ग में इसी रूप में रहते हैं? इन्द्र ने उत्तर दिया कि वहाँ के रूप को मनुष्य देख ही नहीं सकता। भरत ने देखने की इच्छा प्रकट की, तो इन्द्र

ने अलंकारों से सुशोभित अपनी एक अंगुली भरत को दे दिया। वह जगतरूपी मंदिर के लिए दीपक के समान थी। राजा भरत ने अयोध्या में उस अंगुली पर जो महोत्सव मनाया वह 'इन्द्रमहोत्सव' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस कथा का उल्लेख आवश्यकचूर्णि[१००] और वसुदेवहिण्डी[१०१] में भी मिलता है।

यक्षमह

बृहत्कल्पभाष्य में अन्य देवताओं की भाँति यक्ष देव की पूजा का वर्णन मिलता है। कितनी ही बार जैन साधु और साध्वियों को यक्ष से अनिष्ट हो जाने पर किसी मांत्रिक आदि के पास जाकर चिकित्सा करानी पड़ती थी।[१०२] प्रश्न करने पर घंटिक यक्ष उसका उत्तर कान में चुपके से फुसफुसाता था।[१०३] कुछ यक्ष बहुत नीच प्रकृति के होते थे। बृहत्कल्पभाष्य में उल्लेख है कि एक यक्ष जैन साधुओं को रात में खाना खिलाकर उनका व्रतभंग कर संतुष्ट होता था।[१०४] उनका निवास उत्तर और पूर्व दिशा में बतलाया गया है।[१०५] यक्षों की तरह यक्षिणियाँ (शाकिनियां)भी अनिष्टकारी होती थीं।[१०६]

इनकी सर्वत्र पूजा होती थी और उनके सम्मान में उत्सव मनाये जाते थे। वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार बीर-ब्रह्म के रूप में यक्ष की पूजा आधुनिक काल में बंगाल से गुजरात तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक प्रचलित है।[१०७] 'निशीथचूर्णि' में उल्लेख है कि यक्ष प्रसन्न होने पर लाभ तथा अप्रसन्न होने पर हानि भी पहुँचाते थे।[१०८]

समिल्ल नामक नगर के वाह्य उद्यान में सभा से युक्त एक देवकुलिका में मणिभद्र यक्ष का आयतन था। एक बार इस नगर में शीतला का प्रकोप होने पर वे अष्टमी आदि के दिन उद्यापनिका किए। कुछ समय बाद रोग शान्त हो गया। देवशर्मा नामक एक ब्राह्मण को वेतन देकर पूजा करने के लिए रख दिया गया और वह अष्टमी आदि के दिन वहाँ की यज्ञ-सभा को लीप-पोतकर साफ रखने लगा।[१०९]

व्यंतरमह

बृहत्कल्पभाष्य में व्यंतर देव की पूजा का उल्लेख प्राप्त होता है।[११०] नया मकान बनकर तैयार होने पर व्यंतरी की पूजा की जाती थी।[१११] 'निशीथचूर्णि' में व्यंतर देव का उल्लेख किया गया है जिन्हें, यज्ञ, गुह्यक आदि की श्रेणी में गिना जाता है। अनेक अवसरों पर व्यंतर देव को प्रसन्न करने के लिये सुबह,

दोपहर और संध्या के समय पटह बजाया जाता था।[११२]

कभी गृहपत्नी के अपने पति द्वारा अपमानित होने पर, या पुत्रवती पत्नी द्वारा सम्मान प्राप्त न करने पर, अथवा अतिशय रोगी रहने के कारण, अथवा किसी साधु से झंझट हो जाने पर शान्ति के लिए व्यंतर की पूजा की जाती थी और वह रात्रि के समय जैन साधुओं को भोजन कराने से तृप्त होता था।[११३]

कुण्डलमेण्ठ व्यंतर की यात्रा भृगुकच्छ के आसपास के प्रदेश में की जाती थी। इस अवसर पर लोग संखडि मनाते थे।[११४] नया मकान तैयार हो जाने पर भी व्यंतरों की अराधना की जाती थी।[११५] ऋषिपाल नामक व्यंतर ने ऋषितडाग (इसितडाग)[११६] नाम का एक तालाब बनवाया था जहाँ प्रतिवर्ष आठ दिन तक उत्सव मनाया जाता था।[११७] जैनसूत्रों में किन्नर, पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, महोरग और गन्धर्व[११८] इन आठ व्यंतर देवों के आठ चैत्य वृक्षों का उल्लेख है– पिशाच का कदंब, यक्ष का वट, भूत का तुलसी, राक्षस का कांडक, किन्नर का अशोक, किंपुरुष का चम्पक, महोरग का नाग और गन्धर्व का तेंदुक।[११९] डाकिनियां और शाकिनियां भी उपद्रव मचाती रहती थीं। गोल्ल देश में रिवाज था कि डाकिनी के भय से रोगी को बाहर नहीं निकाला जाता था।[१२०]

गुह्यकों के विषय में लोगों का विश्वास था कि वे कैलाश पर्वत के रहने वाले हैं, और इस लोक में खानों के रूप में निवास करते थे।[१२१] यदि कभी कालगत होने के पश्चात् जैन साधु व्यंतर देव से अधिष्ठित हो जाता तो उसके मूत्र को बायें हाथ में लेकर उसके मृत शरीर को सींचा जाता और गुह्यक का नामोच्चारण कर उसे संस्तारक से न उठने का अनुरोध किया जाता।[१२२]

'जैन आगमों' के टीकाकार अभयदेवसूरि ने चैत्य को देवप्रतिमा या व्यंतरायतन के अर्थ में प्रयुक्त किया है।[१२३]

भूतमह

प्रस्तुत ग्रंथ से ज्ञात होता है कि उस समय लोगों का भूत-प्रेतों में बहुत अधिक विश्वास था। उनका मानना था कि भूत दुकानों से खरीदे जा सकते हैं। उल्लेख है कि एक बार एक वैश्य भूत खरीद कर ले आया। वह उसे जो काम बताता, उसे वह तुरन्त कर डालता। आखिर में तंग आकर वैश्य एक खंभा गाड़ दिया और उस पर उतरते-चढ़ते रहने को कहा। इस भूत ने भड़ौंच के उत्तर में 'भूततडाग' नाम का एक तालाब बनवाया।[१२४]

स्कंदमह

स्कंदमह आसोज की पूर्णिमा को मनाया जाता था। भगवान् महावीर के समय में स्कन्द पूजा प्रचलित थी। महावीर जब श्रावस्ती पहुँचे तो अलंकारों से विभूषित स्कंदप्रतिमा की सवारी निकाली जा रही थी।[१२५] ब्राह्मणों की पौराणिक कथा के अनुसार स्कंद अथवा कार्तिकेय महादेव जी के पुत्र और युद्ध के देवता हैं। तारक राक्षस और देवताओं के युद्ध में स्कंद सेनापति बने थे। उनका वाहन 'मयूर' माना गया है।[१२६]

शिवमह

बृहत्कल्पभाष्य में शिव का उल्लेख मिलता है। किसी पर्वत के निर्झर में शिव की प्रतिमा विद्यमान थी। पत्र, पुष्प आदि से उसकी पूजा की जाती, उसका सिंचन और उपलेपन किया जाता तथा हस्तिमद से उसे स्नान कराया जाता था। शिव की काष्ठ प्रतिमा का उल्लेख भी मिलता है।[१२७]

इन देवताओं के अतिरिक्त हमें बृहत्कल्पभाष्य में तत्कालीन समाज में प्रचलित कुछ ऐसे देवताओं का उल्लेख प्राप्त होता है। जिनकी पूजा कल्याणकारी रूप में की जाती थी। जो इस प्रकार है-

वन-देवता

बृहत्कल्पभाष्य में 'वन देवता' का उल्लेख मिलता है।[१२८] हरिभद्र ने भी अन्य देवी-देवताओं के साथ 'वन-देवता' की अलौकिक शक्ति का वर्णन किया है। जंगल के अधिपति देव को वन-देवता के रूप में जाना जाता था। वन-देवता को जंगल में रहने वाले जीव-जन्तुओं का कल्याण कर उनकी वन्दना किये जाने का उल्लेख है।[१२९]

कुल-देवता

प्रस्तुत ग्रन्थ में उल्लेख है कि जब कभी गलगंड अथवा महामारी से लोग मरने लगते, शत्रु के सैनिक नगर के चारों ओर घेरा डाल देते, भुखमरी फैल जाती तो पुरवासी आचार्य (पूजा-पाठ करने वाले) के पास जाते और रक्षा के लिए प्रार्थना करते। आचार्य अशिव आदि की शांति के लिए एक पुतला बनाते, तत्पश्चात् मंत्रपाठ द्वारा उसका छेदन कर कुल देव को प्रसन्न करते थे। इस प्रकार कुल-देवता की शांति पर उपद्रव भी शांत हो जाता था।[१३०] पी.वी. काणे के अनुसार प्राचीन काल में इन्द्र, यम, वरुण, ब्रह्म आदि के साथ घरेलू देवता (कुल देवता)

को प्रसन्न करने के लिये बलि (पक्वान्न) आदि दी जाती थी।[१३१] कुमारसम्भव में भी पार्वती द्वारा कुल देवता को प्रणाम करने का उल्लेख है।[१३२]

यज्ञ

बृहत्कल्पभाष्य में यज्ञ-याग का कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु एक जगह नरबलि का उल्लेख अवश्य हुआ है। बताया गया है कि कभी किसी देवता को प्रसन्न करने के लिए आगन्तुक पुरुष को मार डालते और वह जहाँ मारा जाता उस घर के ऊपर गीली वृक्ष की शाखा का चिह्न बना दिया जाता था।[१३३]

पर्व एवं उत्सव

बृहत्कल्पभाष्य में अनेक पर्व एवं उत्सवों के उल्लेख मिलते हैं। पुष्णमासिणी (पौर्णमासी) का उत्सव कार्तिक पूर्णिमा के दिन मनाया जाता था। इसे कौमुदी महोत्सव भी कहते थे। उत्सव में जाते समय यदि कदाचित् जैन श्रमणों के दर्शन हो जाते थे तो उसे अमंगल ही समझा जाता था।[१३४] थाणुप्पाइय (स्थानोत्पातिक) नामक मह अचानक किसी अतिथि के आ जाने पर मनाया जाता था।[१३५] खेत में हल चलाते समय सीता (हलपद्धति देवता-हल से पड़ने वाली रेखायें) की पूजा की जाती थी। इस अवसर पर भात आदि पकाकर यतियों को दिया जाता था।[१३६]

धार्मिक उत्सवों में पज्जोसण (पर्युषण) पर्व का सबसे अधिक महत्त्व था। यह पर्व पूर्णिमा, पंचमी और दशमी आदि के दिन मनाया जाता था।[१३७] लेकिन इस पर्व का प्रस्तुत ग्रन्थ में कोई उल्लेख नहीं है। जैन धर्म के महान् पोषक मौर्य सम्राट सम्प्रति के समय में अनुयान (रथयात्रा) महोत्सव बड़ी धूम धाम से मनाये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। इस अवसर पर राजा स्वयं अपने भट और भोजिकों को साथ लेकर रथ के साथ-साथ चलता और रथ पर विविध वस्त्र, फल और कोड़िया चढ़ाता था।[१३८]

इसके अतिरिक्त अनेक घरेलू त्योहार भी मनाये जाते थे। एक ऐसे ही उत्सव को 'आवाह' कहा जाता था। इसमें विवाह के पूर्व तांबूल आदि प्रदान किया जाता था।[१३९]

अतः बृहत्कल्पसूत्रकालीन धार्मिक व्यवस्था उत्तम थी। भाष्यकार ने जैन धर्म के अतिरिक्त उस समय प्रचलित अन्य धर्मों, धार्मिक क्रिया-कलापों, रीतिरिवाजों, श्रमण-श्रमणियों के आचारगत अनेक पहलुओं पर विधिवत प्रकाश डाला है।

सन्दर्भ

१. स्थानांगसूत्र, संपादक– मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९९२, १०/१५, पृ. ६९४

२. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ५०९९

३. वही, गा. ५१३८-९६

४. वही, गा. ५२११-३५

५. बृ.क.सू.भा., गा. ५१३९

६. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ४१३७

७. जगदीशचन्द्र जैन जै.आ.सा. में भा.स. पृ. ३८६

८. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ४१८९-४२१५

९. बृहत्कल्पसूत्र, संपा. मधुकर मुनि, ५/१३

१०. बृ.क.सू., संपा. मधुकर मुनि ५/१६

११. दशवैकालिक ५/१/८

१२. बृ.क.सू., संपा. मधुकर मुनि ५/८

१३. वही, ५/९

१४. बृहत्कल्पसूत्र, पृ. १९४ सूत्र ३/३४

१५. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ८५२

१६. वही, गा. २८४२

१७. वही, गा. ५९९७-६०३२

१८. वही, गा. ६०४८-६०५९

१९. वही, पीठिका गा. २९; भाग-, गा. ३६५९-७२

२०. बृहत्कल्पभाष्य, सम्पादक– मधुकर मुनि ३/३

२१. वही, ३/४

२२. आचारांग, २/५/१/५-६

२३. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ३८१०-१९

२४. वही, गा. ४०८२-८४

२५. अवग्रहान्तक (कच्छा), पट्ट (पट्टा), अर्द्धोरुक, चलनिका, अन्तर्निवसनी और बहिर्निवसनी (छह अधोभाग के लिए); कंचुक, औपकक्षिकी, वैकक्षिकी, संघाटी

और स्कन्धकरणी (पाँच ऊर्ध्व भाग को ढंकने के लिए) -बृहत्कल्पभाष्य, गा. ४०८३-४०९९ ओ.नि. ३१३-३२०

२६. अरुण प्रताप सिंह, जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९८६, पृ. ४८

२७. बृहत्कल्पभाष्य, १/४५

२८. वही १/४२-४३

२९. बृहत्कल्पभाष्य, गा. २८०४-३५

३०. वही, गा. २३७१-२३८२

३१. जगदीश चन्द्र जैन, जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. २११

३२. बृहत्कल्पभाष्य, गा. २९६९

३३. वही, गा. ३८०५-७८

३४. वही, गा. ३९१८

३५. वही, गा. ३८०५

३६. वही, गा. ४०८०-८३

३७. वही, गा. ४०९६-९८

३८. वही, गा. ३६७३-७८

३९. वही, गा. ५६६५-८१

४०. वही, गा. २०३४-४६

४१. वही, गा. २१०६-०८

४२. वही, गा. २२३२-३४

४३. वही, गा. २२८८-८९

४४. वही, गा. ४५५४

४५. वही, गा. २६३०

४६. वही, गा. १६१६

४७. वही, गा. २६१६

४८. वही, गा. २६१८-२०

४९. वही, गा. २२९७-२३०७

५०. वही, गा. २३२७

५१. वही, गा. २३२६-२३५२

५२. बृहत्कल्पभाष्य गा. २३५०

५३. वही, गा. २३६२-२३७०

५४. वही, गा. २६१६-२६२८

५५. वही, गा. ३६७९-३८०४

५६. वही, गा. २४२६-२४३३

५७. वही, गा. २४४९

५८. वही, गा. २६३३

५९. वही, गा. ३२४०-४९

६०. उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन २६

६१. बृहत्कल्पभाष्यसूत्र, गा. ५१७९

६३. वही, गा. ५४२५-३१

६३. वही, गा. ५४२५-३१

६४. वही, गा. ५४२८

६५. वही, पीठिका गा. ३८

६६. वही, पीठिका गा. ५२

६७. क.सू., ११९

६८. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. २७८४

६९. वही, गा. २७८४-९१

७०. वही, सम्पादक आगम मनीषी मुनि दुलहराज, जैन विश्वभारती लाडनू, २००७, भाग-१, गा. ३२६३, पृष्ठ ३३१ (टिप्पण)

७१. वही, गा. वही वृ. पृ. ९१३

७२. वही, गा. २७६३

७३. वही, गा. १०८८-१०९३

७४. वही, गा. २९७०-२९९१

७५. वही, गा. ३०३८-३१३८

७६. वही, गा. ४५९८-४६४९

७७. वही, गा. १४४७

७८. वही, गा. ४९४७

७९. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, पीठिका गा. ४६-५२

८०. वही, गा. ४११९

८१. वही, पीठिका गा. ३८-४४

८२. वही, गा. १

८३. वही, गा. २३३१-५२

८४. वही, गा. २३२३

८५. वही, गा. २३२४

८६. मालवणिया दलसुख, निशीथ-एक अध्ययन, पृ. ६८

८७. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ४१२८-३९

८९. वही, गा. ८१४

८९. वही, गा. ५५००-५५५२

९०. वही, गा. १८५६-५९, भाग-१, पृ. १९१ टिप्पण, तुलना कीजिए हापकिन्स, 'इपिक माइथोलाजी', पृ. १३५, तथा महाभारत, वनपर्व, २०४-२०७।

९१. वही, गा. ५१५३

९२. हरिवंशपुराण, २.१५.४

९३. वासुदेवशरण अग्रवाल, प्राचीन भारतीय लोक धर्म, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९६४, पृ. २८

९४. राजतरंगिणी ८. १७०

९५. नि.चू., १९.६०६८

९६. ज्ञाताधर्मकथा १, पृ. २३ जीवाभिगम ३, पृ. १५१; नि.सू., १२.१९। पर्वतपूजा का अर्थशास्त्र (४.३.७८.४४, पृ. ११४) में उल्लेख है। नदी और वृक्ष पूजा के लिए देखिये रोज का 'ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑव द पंजाब एण्ड नोर्थ वेस्टर्न प्रांविन्स', जिल्द १, पृ. १३४ आदि।

९७. उत्तराध्ययन टी. ८, पृ. १३६

९८. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ११७६-१२१७

९९. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, २.६.२१४-२५

१००. आवश्यकचूर्णि, २, १३५०

१०१. वसुदेवहिण्डी, पृ. १८४

१०२. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ५५१८-२५, ५५४०-४७ और गा. २४९४-०७

१०३. वही, गा. १३१२। व्यवहारभाष्य, ७.३१३; आ.चू., २, पृ. २२७

१०४. वही, गा. ४९६३ आदि

१०५. वही, पीठिका गा. ४५६ आदि

१०६. वही, गा. २३८०

१०७. वासुदेवशरण अग्रवाल, 'प्राचीन भारतीय लोक धर्म', पृ. ११८

१०८. नि.चू., २, पृ. ३०८ ३, पृ. ४१६

१०९. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, वृत्ति गा. १८१०-१८११

११०. वही, गा. ४९६३

१११. वही, गा. ४७६३

११२. निशीथचूर्णि, पृ. ४८

११३. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ४९६३

११४. वही, गा. ३१५०

११५. वही, गा. ४७६९

११६. खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख में इसका उल्लेख है।

११७. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ४२२३

११८. उ.ध्य.सू., ३६.२०७

११९. स्थानांग, ८.६५४

१२०. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. २३८० की चूर्णि फुटनोट-३ (वृत्ति)

१२१. नि.भा. १३.४४२७

१२२. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ५५२५

१२३. व्याख्याप्रज्ञप्ति-१ (उत्थान) पृ. ७, बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. १७७४ में ४ प्रकार के चैत्यों का उल्लेख है- साधर्मिक, मंगल, शाश्वत और भक्ति

१२४. वही, वृत्ति भाग-४, गा. ४२१४-२२

१२५. वही, गा. ३४६५-७३

१२६. हापकिन्स, महाभारत, २.३५.४

१२७. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ४४८७

१२८. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, पीठिका गाया ३१८

१२९. समराइच्चकहा ५, पृ. ४२०; ७ पृ. ६६२-६६३

१३०. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ५११२-१३ तथा ५११६

१३१. पी.वी. काणे, 'धर्मशास्त्र का इतिहास', भाग-१, पृ. ४०६

१३२. तामर्चिताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रणम्य माताः, कुमारसम्भव ७.२७

१३३. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य वृत्ति गा. १४५६

१३४. वही, गा. १४५। देखिए वट्टक जातक, (११८), १, पृ. ३३ आदि।

१३५. वही, गा. १८१४

१३६. वही, गा. ३६४७

१३७. इसे परियायवत्थणा, पज्जोसवणा, परिवसणा, पज्जुसणा, वासावास, पढमसमोसरण ठवणा और जेट्ठोगग्गह से भी कहा गया है,

-नि. भा., १०.३१३८-३९

१३८. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ३२८५

१३९. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, गा. ४७१६; जीवाभिगम, ३, पृ. २८०-अ; पियदसि के ९वें आदेशपत्र में पुत्र के विवाह को 'अवाह' और कन्या के विवाह को 'विवाह' कहा गया है; तथा दीघनिकाय अंबट्ठसुत्त, पृ. ८६

*

अध्याय-७

कला एवं स्थापत्य

कला एवं स्थापत्य हमारे देश की सांस्कृतिक धरोहर हैं। इनसे तत्कालीन समाज के लोगों की धार्मिक मान्यताओं, उनकी अभिरुचि और विविध तकनीकों की महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। राज्य एवं जीवन के कार्य-व्यापार को चलाने के लिए विविध कलाओं को सीखना आवश्यक माना गया है। इसीलिए भारतीय साहित्य में इनका सम्यक् चित्रण किया गया है। ज्ञाताधर्मकथा जैसे अंगप्रविष्ट जैन ग्रन्थ में भी ७२ कलाओं का उल्लेख हुआ है जिन्हें सीखने के लिये राजकुमार मेघ को निर्देश दिया गया है।[१] लेकिन प्रस्तुत ग्रन्थ बृहत्कल्पभाष्य में इस तरह का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इस ग्रन्थ में तो केवल निम्न कलाओं के बारे में ही थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्त होती है।

चित्रकला

बृहत्कल्पभाष्य से ज्ञात होता है कि उस समय भित्तिचित्र और व्यक्तिचित्र ये दोनों बनाये जाते थे। चित्रं बनाने में उसी विधि का प्रयोग किया जाता रहा होगा जो आम प्रचलन में रहा होगा। तदनुसार पहले जमीन तैयार कर ली जाती थी, फिर रेखाओं द्वारा आकृतियाँ बनाकर उसमें तूलिका से उपयुक्त रंग भर दिया जाता था।[२] चित्रकला एक जगह निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के वस्त्र के संदर्भ में पाँच रंगों का उल्लेख भी हुआ है जो इस प्रकार हैं- कृष्ण, नील, लोहित, पीत और शुक्ल।[३] इन्हीं पाँच रंगों का उल्लेख शिल्पशास्त्र के ग्रन्थों में भी हुआ है।[४]

भित्तिचित्र का प्रसंग निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के उपाश्रयों के संदर्भ में आया है। कहा गया है कि बिना विशेष कारण के जैन श्रमण-श्रमणियाँ चित्रकर्मयुक्त उपाश्रय में नहीं रुक सकते क्योंकि रहने पर दोष लगेगा जिनका उन्हें प्रायश्चित्त करना पड़ेगा।[५] इसी संदर्भ में चित्रकर्म का वर्गीकरण किया गया है- सदोष चित्रकर्म और निर्दोष चित्रकर्म। ग़ह वर्गीकरण विषयवस्तु पर आधारित है। वृक्ष, पर्वत, नदी, समुद्र, भवन, वल्लरी, पूर्णघट और स्वस्तिक जैसे मांगलिक पदार्थों के आलेखन को निर्दोष चित्रकर्म और स्त्रियों पुरुषों के आलेखन को सदोष चित्रकर्म कहा गया है।[६]

इस समय सुंदर व्यक्तिचित्र बनाये जाते थे क्योंकि बृहत्कल्पभाष्य में उल्लेख है कि राजकुमार सागरचन्द कमलामेला के चित्र को देखकर मोहित हो गया और उससे प्यार करने लगा।[७] इसी प्रकार किसी परिव्राजिका ने जब चेटक की कन्या राजकुमारी सुज्येष्ठा का चित्र एक फलक पर बनाकर राजा श्रेणिक को दिखाया तब वह उसे देखकर मोहित हो गया।[८]

प्राचीन काल में चित्रशालाएँ होती थीं। राजाओं के लिए तो वे गर्व की वस्तु थीं। अन्य लोग भी चित्रशालाएँ बनवाते थे। बृहत्कल्पभाष्य में एक वेश्या के चित्रशाला का उल्लेख है जिसमें उसने मनुष्य की विभिन्न जातियों की विशेषताओं का और भाँति-भाँति के प्रेमी युगलों का चित्रण कराया था। जब कोई व्यक्ति उसके यहाँ जाता था तब वह उसे अपनी चित्रसभा दिखाकर पूछती थी कि कौन-सा दृश्य उसे सबसे अधिक प्रिय लगा। आगन्तुक के उत्तर से ही वह उसकी जाति, पसन्द और गुण-दोष का आकलन कर लेती थी।[९] सैकड़ों खम्भों से निर्मित एक आकर्षक चित्रशाला राजगृह में भी थी जिसे किसी श्रेष्ठी ने बनवाया था।[१०] वैशाली की प्रसिद्ध नर्तकी आम्रपाली के पास भी चित्रशाला थी।[११]

मूर्तिकला

भारत में अति प्राचीन काल से मूर्तियों का निर्माण होने लगा था। सिन्धुघाटी की ताम्रपाषाण कालीन सभ्यता में पत्थर, धातु और मिट्टी की बहुत-सी मूर्तियाँ मिली भी हैं।[१२] तीर्थंकर महावीर के समय में लकड़ी की भी मूर्तियाँ बनाई जाती थीं।[१३] बृहत्कल्पभाष्य[१४] में शिव की काष्ठ प्रतिमा का उल्लेख प्राप्त होता है जिससे प्रतीत होता है कि भाष्यकार के समय में भी काष्ठ की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। प्रस्तुत ग्रन्थ में एक जगह यह भी उल्लेख है कि स्कन्द (कात्तिकेय), मुकुन्द (विष्णु) और अन्य देवताओं के मंदिरों में उन-उन देवताओं की काष्ठ प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित और पूजी जाती थीं।[१५] इसके अतिरिक्त उस समय मिट्टी (पुत्थ), हाथी दाँत (दन्त), पत्थर (सेल) और मणि की मूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं।[१६]

बृहत्कल्पभाष्य में यन्त्रमय प्रतिमाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसी प्रतिमाएँ चलती-फिरती और पलक मारती थीं। पादलिप्त आचार्य ने किसी राजा की बहन की प्रतिमा बनायी थी, जो भ्रमण करती थी, पलक मारती थी और हाथ में व्यंजन लेकर आचार्यों के समक्ष उपस्थित हो जाती थी। कहा गया है कि यवन देश में आगन्तुकों को इसी प्रकार स्त्री बनाकर छोड़ दिया जाता था।[१७]

उज्जैनी का शासक प्रद्योत कौशाम्बी के राजा उदयन को पकड़ने के लिए इसी प्रकार का एक हाथी बनवाया था।[१८]

स्थापत्यकला

प्राचीन भारत में अनेक प्रकार की इमारतें बनाई जाती थीं जिनमें गृह-निर्माण सबसे महत्त्वपूर्ण था। गृह-निर्माण करने के पूर्व भूमि की परीक्षा की जाती थी। फिर भूमि को समतल किया जाता था, और वहाँ जो निर्माण करना होता था वहाँ अक्षर से अंकित मोहरें (उंडिया) डाली जाती थीं। तत्पश्चात् भूमि खोदी जाती और नींव को मूंगरी से कूटकर, उसके ऊपर ईटें की चिनाई की जाती थी। पीठिका या कुर्सी तैयार हो जाने पर उस पर भवन खड़ा किया जाता था।[१९] निशीथचूर्णि के अनुसार गृह में कोष्ठ, सुविधि (चबूतरा) मंडपस्थान (आंगन) गृहद्वार और शौचगृह (वच्च) बनाये जाते थे।[२०]

बृहत्कल्पभाष्य में वास्तु के तीन प्रकार बतलाये गये हैं– खात (भूमिगृह), ऊसिय (उच्छ्रित; प्रासाद आदि), और उभय (भूमिगृह से सम्बद्ध प्रासाद आदि)।[२१] राजप्रश्नीयसूत्र में सूर्याभदेव के विमान (प्रासाद) के सन्दर्भ में बतलाया गया है कि वह विमान चारों ओर से प्राकार से घिरा था। प्राकार पर सुन्दर कंगूरे बने थे। विमान के चारों दिशाओं में द्वार थे जो ईहामृग, बृषभ, नरतुरग (मनुष्य के सिर वाला घोड़ा), मकर, विहग (पक्षी), सर्प, किन्नर, चमर, कुंजर, वनलता और पद्मलता की आकृतियों से अलंकृत थे। उनमें विद्याधर-युगल की आकृति वाली वेदिकाएँ बनी हुई थीं। द्वारों पर क्रीड़ा करती हुई अनेक शालभंजिकाएँ भी सुशोभित थीं। द्वारों के दोनों ओर खूटियाँ (णागदन्दटपरिवाडी) थीं और उन खूटियों पर क्षुद्रघण्टिकाएँ टंगी थीं। खूटियों पर लम्बी-लम्बी मालाएँ और छींके (सिक्कग) लटक रहे थे और इन छीकों पर धूपपात्र टंगे थे।[२२] बृहत्कल्पभाष्य में प्राकार, द्वार, पताका, ध्वज, तोरण, पीठिका, आसन, छत्र, चंवर आदि वास्तु से संबंधित अनेक शब्दों का उल्लेख प्राप्त होता है।[२३] एक जगह कमरे में सुगंधित धूप के जलने का उल्लेख हुआ है।[२४]

रक्षा प्राचीर

प्राचीन काल में दुर्ग या नगर के चारों ओर रक्षा प्राचीर का निर्माण किया जाता था। बृहत्कल्पभाष्य में छह प्रकार के रक्षा प्राचीरों का उल्लेख है– पाषाणमय (द्वारिका), इष्टिकामय (नंदपुर), मृत्तिकामय (सुमनोमुखनगर), खोड यानी

काष्ठमय, कटक यानी वंशदलादिमय और कण्टिका यानी बबूल आदि काँटेदार वृक्ष से युक्त। प्राचीर खाट, सर, नदी, गर्त और पर्वत से घिरा होता था।[२५]

प्रासाद निर्माण

धनी और सम्पन्न लोगों के लिए ऊँचे प्रासाद (अवतंसक) बनाये जाते थे। राजगृह पत्थर और ईटों से निर्मित अपने भवनों के लिए प्रसिद्ध था।[२६] टीका ग्रंथों में सात तल वाले प्रासादों का उल्लेख मिलता है।[२७] प्रसादों के शिखर गगन-तल को स्पर्श करते थे, मणि, कनक और रत्नों से निर्मित होने के कारण चित्र-विचित्र मालूम होते थे। उनके ऊपर वायु से चंचल पताका फहरा रही थी तथा छत्र से वे अत्यन्त शोभायमान जान पड़ते थे।[२८]

धार्मिक स्थापत्यकला

धार्मिक इमारतों में देवकुलों का उल्लेख हुआ है जिनमें यात्री आकर रुकते थे। इस प्रकार की वसति का निर्माण करने के लिये पहले दो धरन (धारणा) रक्खे जाते थे, उन पर एक खंभा (पट्टीवंस) तिरछा रखते थे। फिर दो धरनों के ऊपर दो-दो मूलवेलि (छप्पर का आधारभूत स्तम्भ) रक्खी जाती थी। तत्पश्चात् मूलवेलि के ऊपर बाँस रक्खे जाते और पृष्ठवंश को चटाई से ढक कर रस्सी बाँध दी जाती। उसके बाद उसे दर्भ आदि से ढक दिया जाता, मिट्टी या गोबर का लेप किया जाता और उसमें दरवाजा लगा दिया जाता।

पट्टीवंसो दो धारणाउ चत्तारि मूलवेलीतो।
मूलगुणेहिं उवहया, जा सा आहाकडा वसही।।
वंसग कडणोक्कंचण छावण लेवण दुवार भूमी य।
सप्परिकम्मा वसही, एसा मूलोत्तरगुणेसु।।[२९]

चैत्य-स्तूप

चैत्य को स्तूप भी कहते हैं। बृहत्कल्पभाष्य में चैत्य के निम्न चार प्रकार बताये गये हैं- साहम्मिय, मंगल, सासय और भत्ति।[३०] साहम्मिय चैत्य स्वधर्मियों के लिये बनाया जाता था। मंगल चैत्य शुभ देने वाला होता था। सासय चैत्य शाश्वत होते थे। भत्ति चैत्य सर्वसाधारण के पूजा-उपासना के लिए बनाया जाता था। बौद्धों को इस प्रकार का विभाजन अमान्य है। उन्होंने चैत्य के शारीरिक, उद्देशिक और पारिभोगिक ये तीन प्रकार बतलाये हैं।[३१]

बृहत्कल्पभाष्य में मांगलिक चैत्य के कुछ एक उदाहरण भी दिये हैं। उल्लेख है कि मथुरा नगरी अपने मंगल चैत्य के लिए प्रसिद्ध थी। यहाँ पर गृह-निर्माण करने के बाद उत्तरंगों में अर्हत्-प्रतिमा की स्थापना की जाती थी। लोगों का विश्वास था कि इससे गृह के गिरने का भय नहीं रहता।[३२] जीवन्तस्वामी की प्रतिमा को चिरंतन चैत्य में गिना गया है।[३३] घरेलू उपयोग में आने वाले सामानों में पंखा (वाजन), छत्र (चत्त) और उण्ड (दंड) का उल्लेख है।[३४]

संगीत

प्राचीन भारत में संगीत कला को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। राजा-महाराजा और अभिजात-वर्ग के लोग ही नहीं, अपितु साधारण लोग भी गाने-बजाने और नृत्य के शौकीन थे। मान्य बहत्तर कलाओं में संगीत भी शामिल है। इसमें नृत्य, गीत, स्वरगत, वादित्र, पुस्करगत और समताल के नाम आते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्राचीन भारत में संगीत और नृत्य का काफी प्रचार था।[३५] संगीत की तीन विधाएँ हैं- गायन, वादन और नृत्य।

भारतीय जनमानस का व्यावहारिक जीवन धर्म से अनुप्राणित रहा है। संगीत ने तत्कालीन धर्म को भी प्रभावित किया और धार्मिक अभिव्यंजना को संगीत कला द्वारा पुष्पित व पल्लवित करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। सामान्य जन में धर्म के प्रचार हेतु प्रचलित गीतों का प्रयोग किया जाता था जो लोगों पर अपना महत्त्वपूर्ण प्रभाव भी डालते थे।[३६]

समाज में तरह-तरह के उत्सव मनाये जाते थे। इन उत्सवों पर नागरिकों द्वारा गीत-नृत्य आदि के विभिन्न कार्यक्रम आयोजित किये जाते थे। विभिन्न ऋतुओं के आगमन पर भी उत्सवों का आयोजन किया जाता था और सामूहिक रूप से गायन-वादन होता था। बृहत्कल्पभाष्य में इंदमह,[३७] थूभमह[३८] और पव्वमह[३९] का उल्लेख भी हुआ है। इन्द्रमह तो निरन्तर एक सप्ताह तक मनाया जाता था। संगीत प्राचीन काल से ही विलास सामग्रियों का अभिन्न अंग रहा है। सुन्दर वस्त्र, आभूषण के अतिरिक्त संगीत भी आवश्यक अंग माना जाता था।[४०]

जैन ग्रंथों में ६० प्रकार के वाद्ययंत्रों के नाम गिनाये गये हैं।[४१] प्रस्तुत ग्रन्थ में भी बारह वाद्ययंत्रों का नामोल्लेख है[४२] - भंभा, मुकुन्द, मद्दल, कडंब, हुडुक्क, कांस्यताल, काहल, वंश, पणव और शंख।

मनोरंजन एवं कला की दृष्टि से संगीत को अनिवार्य माना जाता था। नाट्य, वाद्य, गेय और अभिनय के भेद से संगीत को चार प्रकार का बताया गया है।

इसमें वीणा, तल, ताल, लय और वादित्र मुख्य हैं।[४३] राजप्रश्नीयसूत्र में ३२ प्रकार की नाट्यविधियों का उल्लेख है।[४४] कुवलयमालाकहा में ७२ प्रकार की कलाओं तथा वाणभट्ट की कादम्बरी में चन्द्रापीड द्वारा विभिन्न प्रकार की नाट्य संगीत कलाओं का उल्लेख है।[४५]

वाद्य भी संगीत कला का एक अंग माना जाता था। राजप्रश्नीय-सूत्र में वाद्य कला के अन्तर्गत शंख, शृंग, भेरी, पटह आदि ४९ प्रकार के वाद्यों का उल्लेख है किन्तु कुछ लोगों के अनुसार इनकी संख्या ५९ मानी गयी है।[४६] कादम्बरी में भी वाद्य कला के अन्तर्गत वीणा, बांसुरी, मृदंग, कांसा, मंजीरे, तूती आदि वाद्य कलाओं का उल्लेख है।[४७]

संगीत कला के अन्तर्गत पटह और भेरियों का महत्त्वपूर्ण वर्णन मिलता है। कृष्णवासुदेव की कौमुदिकी[४८], संग्रामिकी, दुर्भूतिका और अशिवोपशामिनी नामक भेरियों का उल्लेख प्राचीन जैनसूत्रों में मिलता है। ये चारों गोशीर्ष चन्दन की बनी थीं। कहते हैं कि जब अशिवोपशामिनी भेरी बजायी जाती तो छः महीने के लिए समस्त रोग शान्त हो जाते थे।[४९] एक बार परदेश से कोई वणिक् द्वार पर आया। वह सिर की वेदना से अत्यन्त व्याकुल था। वैद्य ने उसे गोशीर्ष चन्दन का लेप बताया था, लेकिन गोशीर्ष बहुत प्रयास करने पर भी नहीं मिला। अन्त में उसने ढेर सा द्रव्य कृष्ण के भेरीपाल को देकर भेरी का एक खण्ड खरीद लिया। परिणाम यह हुआ कि भेरी खण्डित हो गयी, और उसका बजना बन्द हो गया, और प्रजा रोगी होने लगी। जब कृष्ण को इस बात का पता चला तो उसने भेरीपाल को बुलाकर उसके वंश का नाश कर दिया।[५०]

सन्दर्भ

१. ज्ञाताधर्मकथा, अध्ययन १, पृ. २१
२. सी. शिवराममूर्ति, इण्डियन पेंटिंग, दिल्ली, १९७०, पृ. ३४
३. बृहत्कल्पभाष्य, वृत्ति गा. ३८६७-८८, पृ. १०६४
४. सी. शिवराममूर्ति, इण्डियन पेंटिंग, पृ. ३४
५. बृहत्कल्पभाष्य, गा. २४२६-३३
६. वही, गा. २४२९
७. वही, पीठिका गा. १७२
८. आवश्यकचूर्णि, २, पृ. १६५

९. बृहत्कल्पभाष्य, पीठिका गाथा २६२

१०. ज्ञाताधर्मकथा १३.१४

११. जगदीशचन्द्र जैन, जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. २७३

१२. ह्वीलर, मा. दी इण्डस सिविलाइजेशन, कैम्ब्रिज, १९५३, पृ. ६३-८१

१३. ज्ञाताधर्मकथा, १३.१४

१४. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ४४८७

१५. वही, गा. ३४६५

१६. वही, गा. २४६९ व गा. २५०४

१७. वही, गा. ४९१५ व उसकी वृत्ति

१८. आवश्यकचूर्णि २, पृ. १६१

१९. बृहत्कल्पभाष्य, पीठिका गा. ३३१-३३; तुलना कीजिए मिलिंदप्रश्न, पृ. ३३१-३३५

२०. निशीथचूर्णि ३.१५३४-३५

२१. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ८२७। प्रासादभूमि को डायाल कहा है, निशीथचूर्णी १.६३१

२२. राजप्रश्नीयसूत्र, ९७ आदि। निशीथसूत्र १३.९ में घूणा (छोटा स्तम्भ), गिहेलुय (देहली), उसुकाल (ओखली) और कामजल (स्नानपीठ) का उल्लेख मिलता है।

२३. बृहत्कल्पभाष्य, पीठिका गा. ११७६-१२१७

२४. वही, पीठिका गा. ५८२

२५. पासाणिट्टग-मट्टिय-खोड-कडग-कंटिगा भवे दव्वे।
खाइय-सर-नइ-गड्डा-पव्वय-दुग्गाणि खेत्तमि।। - बृहत्कल्पभाष्य, गा. ११२३ और उसकी वृत्ति।

२६. बृहत्कल्पभाष्य, गा. ४७६८

२७. उत्तराध्ययनटीका १३, पृ. १८९

२८. ज्ञाताधर्मकथा, १, पृ. २२

२९. बृहत्कल्पभाष्य, पीठिका गा. ५८२-८३; भाग-२, गा. १६७५-७७

३०. वही, गा. १७७४

३१. वासुदेवशरण अग्रवाल, भारतीय कला, वाराणसी, १९७७, पृ. १५१-५२

३२. बृहत्कल्पभाष्य, गा. १७७६, व वृत्ति

३३. वही, गा. २७५३ वृत्ति

३४. वही, गा. ४०९७

३५. भारतीय संगीत के लिये देखिए कुमारस्वामी, द डान्स ऑव शिव, पृ. ७२-८१; जगदीशचन्द्र जैन, जैनागम में प्राचीन भारतीय समाज, पृ. ३१९

३६. बृहत्कल्पभाष्य, गा. २५६४

३७. वही, गा. ५१५३

३८. वही, गा. ६२७५

३९. वही, गा. ४७१६

४०. वही, गा. २५५७

४१. जगदीशचन्द्र जैन, जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. ३२०

४२. बृहत्कल्पभाष्य, पीठिका गा. २४ की वृत्ति में बारह वाद्यों का उल्लेख है। व्याख्याप्रज्ञप्तिटीका, ५.४ पृ. २१६-अ; जीवाभिगम, ३, पृ. १४५-अ; जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति २, पृ. १००-अ; अनुयोगद्वारसूत्र, १२७; नि. सू. १७.१३५-१३८। 'निशीथसूत्र में डमरू, ढकुण आदि वाद्यों की अतिरिक्त संख्या गिनायी गयी है।

४३. स्थानांगसूत्र ४, पृ. २७

४४. राजप्रश्नीय टीका पृ. १३६

४५. कादम्बरी, पृ. २३१-३२ कुवलयमालाकहा २२.१-१०

४६. जगदीशचन्द्र जैन, जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. २३१

४७. कादम्बरी, पृ. २३१-३२

४८. महाभारत, १.२५.२८

४९. जगदीशचन्द्र जैन, जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. २९०

५०. वही, पृ. २९०

*

अध्याय-८

उपसंहार

संघदासगणि जैन परम्परा के सुविख्यात् आचार्य हैं जिन्होंने भद्रबाहुकृत बृहत्कल्पसूत्र ग्रन्थ पर सुविस्तृत छन्दोबद्ध भाष्य लिखा है जिसमें लगभग साढ़े छः हजार प्राकृत गाथायें हैं। मूलसूत्र के व्याख्यान का जहाँ तक सम्बन्ध है यह भाष्य अद्वितीय है। जैन मुनियों के लिए विहित आचार, नियम एवं असमर्थता के कारण उनके उल्लंघन होने पर उनके प्रायश्चित्त का विस्तार से निरूपण इस ग्रंथ में किया गया है।

किसी भी ग्रंथ के सांस्कृतिक अध्ययन में तत्कालीन, भौगोलिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियों का अध्ययन अपरिहार्य होता है। बृहत्कल्पभाष्य में इन सभी बिन्दुओं पर सविस्तार चर्चा उपलब्ध है जो उसके सांस्कृतिक अध्ययन को पूर्णता प्रदान करते हैं।

तत्कालीन भौगोलिक परिस्थितियों के वर्णन में बृहत्कल्पभाष्य प्रायः उदासीन दिखाई देता है। इसीलिए जनपदों के अंतर्गत केवल सुराष्ट्र, अवंति, कुणाल, सिन्धु-सौवीर, शूरसेन और कोशल का, नगरों में मथुरा, उज्जयिनी, आनन्दपुर, भृगुकच्छ, सूर्पारक, ताम्रलिप्ति, पुरिसपुर, तोसलि आदि का, पर्वतों में उज्जयन्त, इन्द्रपद और अबुर्द का और नदियों में गंगा, इरावइ और गोयावरी का ही उल्लेख किया है। तथापि उसने ग्रामों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी दी है और बतलाया है कि ग्राम वे हैं जहाँ १८ प्रकार के कर वसूल किये जाते थे और साथ ही नगर वे हैं जहाँ कोई कर नहीं लगाये जाते। ग्राम व नगर के अतिरिक्त उसने खेट, कर्वट, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, सम्बन्ध, घोष, अंशिका और पुटभेदन आदि ग्राम के प्रकारों को भी परिभाषित किया है।

तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों पर इस ग्रन्थ से विपुल प्रकाश पड़ता है। परंपरागत चातुवर्ण्य का यत्र-तत्र उल्लेख मात्र ही है। इसकी जगह आर्य और अनार्य जातियों पर बल दिया गया है और बतलाया गया है कि जैन साधु-साध्वियाँ आर्य देशों में ही भ्रमण करें क्योंकि इन क्षेत्रों में उन्हें आहार, उपाश्रय आदि की

सुलभता होती है। विवाह के बारे में केवल स्वयंवर और गान्धर्व विवाह का उल्लेख प्राप्त होता है। बृहत्कल्पभाष्य में भाई-बहन के विवाह का भी उल्लेख मिलता है। गोल्म देश में इस तरह के विवाह का प्रचलन था। उस समय नारी की स्थिति संतोषजनक थी परन्तु उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी। कभी-कभी वह परपुरुष के साथ भाग जाती थी। इसी प्रकार जैन साधुओं की अपेक्षा साध्वियों पर कठोर नियम लागू किये गये थे। उस समय दास-प्रथा का प्रचलन मौजूद था लेकिन दास-दासी प्रायः परिवार के साथ ही रहते थे। ग्रन्थ के अनुसार ऋणग्रस्त होने पर लोगों को दासवृत्ति स्वीकार करनी पड़ती थी। ऐसे व्यक्ति को श्रमण-दीक्षा का निषेध किया गया है। उस समय लोग अन्न, फल, दूध, मांस, मदिरा आदि का सेवन करते थे। प्रस्तुत ग्रंथ में विभिन्न प्रकार के पकवानों का उल्लेख है जिनमें पुलाक विशिष्ट प्रकार का पकवान होता था। उसके तीन प्रकार भी बतलाये गये हैं- धान्यपुलाक, गंधपुलाक और रसपुलाक। ग्रन्थ निमित्त शास्त्र पर भी प्रकाश डालता है। उस समय जादू-टोना आदि में लोगों का विश्वास था। इनके माध्यम से लोग अपने अनेक कार्य सम्पन्न करते थे। मंत्रविद्या से अश्व उत्पादन का उल्लेख प्राप्त होता है। साधु-साध्वियों के वस्त्र, उपकरण आदि के साथ ही सामान्य जन के वस्त्रों की भी प्रस्तुत ग्रंथ में विस्तार से चर्चा है। उस समय के लोग अनेक प्रकार से आमोद-प्रमोद और मनबहलाव किया करते थे। मह, छण (क्षण), उत्सव, यज्ञ, पर्व, गोष्ठी, प्रमोद और संखडि आदि ऐसे कितने ही उत्सव और त्योहार थे जहाँ लोग जी-भरकर आनन्द लेते थे। ऐसे अवसरों पर तरह-तरह के व्यंजन भी बनाये जाते थे। धार्मिक उत्सवों में पर्व का सबसे अधिक महत्त्व था।

बृहत्कल्पसूत्रभाष्य में चिकित्सा पद्धति का सुंदर चित्रण किया गया है जिसमें आठ प्रकार के वैद्यों का नामोल्लेख मिलता है- (१) संविग्न (२) असंविग्न, (३) लिंगी, (४) श्रावक (५) संज्ञी (६) अनभिगृहीत असंज्ञी (मिथ्या-दृष्टि), (७) अभिगृहीत असंज्ञी (८) परतीर्थिक।

असाध्य रोगों के साथ-साथ सामान्य जीवन निर्वाह के नियमों का निवारण करने हेतु औषधि एवं चिकित्सा की व्यवस्था थी। इसमें रोग नाशक औषधि और शल्यक्रिया से सम्बन्धित औषधि प्रयोग किये जाते थे। चिकित्सक को वैद्य कहा जाता था।

तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था सुदृढ़ थी। कृषि उत्पादन तथा पशुपालन को प्राथमिक उत्पादन माना जाता था। कृषक कृषि कार्य करने में निपुण होते थे।

उन्हें इस बात का ज्ञान था कि कौन सी भूमि उपजाऊ है और कौन सी अनुपजाऊ। खेतों में जुताई के लिए हल व बैल की सहायता ली जाती थी। सिंचाई वर्षा के साथ-साथ सेतु और केतु साधनों पर निर्भर थी। अन्नों के भण्डार की उचित व्यवस्था थी।

पशुओं से कृषि कार्य तो होता ही था इसके अतिरिक्त उनसे दुग्ध, मांस, ऊन तथा चमड़ा प्राप्त होता था। ये युद्ध और यातायात में भी सहायक होते थे। उनके बाल से बने रजोहरण और कम्बल जैन साधु-साध्वियाँ उपयोग में लाते थे। दुष्काल में जैन साधुओं को मांस खाने का भी विधान किया गया है।

वाणिज्य एवं व्यापार समृद्ध था। व्यापारियों को सार्थ कहा जाता था जो देशी और विदेशी दोनों प्रकार की मंडियों में व्यापार करते थे। उनके नेता ज्येष्ठ व्यापारी सार्थवाह कहलाता था। व्यापारिक मार्ग में सुरक्षा की समुचित व्यवस्था थी। पाँच प्रकार के सार्थों का उल्लेख मिलता है। उस समय व्यापारिक समाज में ऐसे साहसी सार्थवाह विद्यमान थे जिन्होंने अनेक बार विदेश यात्रा करके अपने व्यापार को आगे बढ़ाया था। उस समय सार्थवाहों के साथ यात्रा करना काफी सुरक्षित समझा जाता था। इसीलिए जैन साधु-साध्वियों को सार्थवाहों के साथ यात्रा करने का विधान किया गया है।

उद्योग-धन्धों का समाज की आर्थिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान था। वस्त्र उद्योग उस समय समुन्नत अवस्था में था। सूती, रेशमी, ऊनी, चर्म-निर्मित आदि अनेक प्रकार के वस्त्रों का निर्माण प्रचलित था। कपड़ों की रंगाई भी की जाती थी। उद्योग-धन्धे व्यापारियों द्वारा चलाये जाते थे जो अलग-अलग श्रेणी और संगठनों से जुड़े होते थे। सामान लाने ले जाने के लिए जल और स्थल दोनों मार्गों का प्रयोग किया जाता था।

तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था में राजतन्त्रात्मक प्रणाली प्रचलित थी। गणतंत्रात्मक व्यवस्था का नामोल्लेख तक नहीं हुआ है। राजतंत्रात्मक व्यवस्था ये अराजक, जुवराय, वैराज्य और द्वैराज्य ये चार प्रकार के राज्य बतलाये गये हैं। स्त्री, जुआ, सुरा और आखेट में लिप्त राजा को राज्य चलाने के लिए अयोग्य कहा गया है। राज्य का उत्तराधिकारी उसका पुत्र ही होता था परन्तु पुत्रविहीन राजा की मृत्यु हो जाने पर मंत्रियों की सलाह से स्वस्थ जैन साधुओं द्वारा पुत्र उत्पन्न कराये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। राज्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए युवराज के अतिरिक्त पूरन्ति, छत्तन्ति, बुद्धि, मंत्री और रहस्सिया आदि

होते थे। पारंपरिक चतुरंगिणी सेना में उस समय घुड़सवार सैनिकों की बहुलता थी।

राज्य में अपराध पर नियंत्रण था क्योंकि शासन व्यवस्था कड़ी थी। छोटे-मोटे अपराधों के लिए मृत्यु दण्ड तक दे दिया जाता था। फिर भी उस समय चोरों का बहुत आतंक था। ये चोर जैन साधु-साध्वियों को भी नहीं छोड़ते थे। कभी-कभी तो जैन साधु ही चोरों को पकड़कर राजा के पास उन्हें उचित दण्ड दिलाने के लिए प्रस्तुत होते थे। उस समय कर की उगाही कड़ाई से की जाती थी। कर न देने पर राजा मृत्यु दण्ड तक का आदेश दे देता था।

राज्य का समुचित संचालन राजप्रासाद से किया जाता था। दुर्ग तथा नगर की सुरक्षा के लिए खाईं और परिखा का निर्माण किया जाता था।

धार्मिक क्षेत्र में जैन श्रमण-श्रमणियों के प्रव्रज्या, आहार, वस्त्र, उपाश्रय, दिनचर्या, विहार-यात्रा, शील और मृत्यु-संस्कार के बारे में विपुल सामग्री पायी जाती है। शास्त्र-सम्मत नियमों का पालन करते हुए ही उन्हें जीवनयापन करने का विधान किया गया है। यदि किसी कारण से नियमों का उल्लंघन हो जाय तो उसके लिए प्रायश्चित्त का समुचित विधान किया गया है। प्रस्तुत ग्रंथ में प्रायः अपवाद गिनाये गये हैं जिससे प्रतीत होता है कि उस समय श्रमण संघ में काफी शिथिलिता आ गई थी। शायद तत्कालीन परिस्थितियाँ भी अपवादों के विवाद के लिए जिम्मेदार थीं। उदाहरण के लिए विशेष परिस्थितियों में मद्यपान एवं मांसभक्षण उनके लिए विहित माना गया है। शील के संबंध में बतलाया गया है कि विशुद्ध कर्मों का आचरण करते हुए मृत्यु का आलिंगन करना उचित है लेकिन अपने शीलव्रत से स्खलित होना कदापि उचित नहीं है।

धार्मिक जीवन से सम्बन्धित अन्य सामग्री में विभिन्न महों यथा-इन्द्रमह, यक्षमह, व्यंतरमह, भूतमह, स्कंदमह और शिवमह का, वन-देवता और कुल-देवता का, और कुछ-एक धार्मिक उत्सवों यथा रथयात्रा, आवाह, कौमुदी महोत्सव आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। तीर्थंकर महावीर के काल से ही जिन अनेक महों को मनाया जाता था उनमें से कुछ के नाम समकालीन समय में भी प्राप्त होते हैं। इस काल में किसी देवता को प्रसन्न करने के लिए कभी-कभी आगन्तुक की भी बलि दे दी जाती थी। इस काल में तान्त्रिक विधि-विधान का प्रचलन बढ़ रहा था। यह भूतमह से तो स्पष्ट है ही, कभी-कभी साधु-साध्वियों के डर जाने पर उन्हें मांत्रिक के पास ले जाकर चिकित्सा भी कराई जाती थी।

कला एवं स्थापत्य नामक सातवें अध्याय से ज्ञात होता है कि उस समय तत्कालीन समाज में विभिन्न प्रकार की कलाओं को सीखने-सिखाने की व्यवस्था थी। इनके अन्तर्गत चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला और संगीत-कला को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला हुआ था। उस समय मुख्यतः दो प्रकार के चित्र बनाये जाते थे- सदोष और निर्दोष। सदोष चित्रकला में मानव आकृतियाँ होती थीं जब कि निर्दोष चित्रकला में नदी पहाड़, वन आदि का चित्रण होता था। मूर्तिकला के अंतर्गत स्कन्द (कार्तिकेय), मुकुन्द (विष्णु) और शिव की काष्ठ प्रतिमाओं का उल्लेख किया गया है। वास्तुकला के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के रक्षा प्राचीरों का उल्लेख मिलता है। उनके चार प्रकार भी बतलाये गये हैं- पाषाण, इष्टिका, मृत्तिका और काष्ठ। संगीत कला के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के वाद्य-यन्त्रों का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार बृहत्कल्पभाष्य जैन श्रमणाचार का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। जो सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। श्रमण आचार के विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करते हुए यह ग्रन्थ तत्कालीन, भौगोलिक, राजनीतिक, आर्थिक धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रदेयों का भी सविस्तार वर्णन करता है जो कथ्य और तथ्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अपने कथन के समर्थन में भाष्यकार ने समसामयिक आचार्यों एवं उनकी कृतियों का बड़े सम्मान के साथ निवेश किया है तथा अपनी समीक्षात्मक एवं आलोचनात्मक दृष्टि एवं सूझ-बूझ का परिचय दिया है।

*

सहायक ग्रंथ-सूची

१. अग्रवाल, वी.एस. पाणिनी कालीन भारत वर्ष : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना वि.सं. २०१२।

२. अग्रवाल वी.एस., कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५८।

३. अग्रवाल वी. एस., इण्डिया ऐज नोन टू, लखनऊ, १९५३

४. अग्रवाल, वी.एस., भारतीय कला, वाराणसी, १९७७

५. अनुत्तरौपपातिक दशांग, संपा. मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, १९८१

६. अन्तकृद्दशांग : आगम प्रकाशन समिति, व्यावर।

७. अन्तकृद्दशांग : जैनशास्त्रोद्धार समिति, राजकोट।

८. अरुण प्रताप सिंह, जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी

९. अष्टाध्यायी (पाणिनि) : चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी।

१०. आवश्यक चूर्णि : जिनदासगणिकृत, ऋषभदेव केसरी मल, रतलाम, १९२८।

११. आवश्यकचूर्णि : जिनदासगणि, प्रकाशक, जामनगर।

१२. आवश्यकसूत्र : टीका मलयगिरि, आगमोदय समिति, बम्बई १९१६

१३. आवश्यक निर्युक्ति : भद्रबाहु, आगमोदय समिति, बम्बई।

१४. आवश्यक सूत्र : संपा. मधुकर मुनि, आ.प्र.स., व्यावर, १९८५

१५. आगम और व्याख्या साहित्य (विजयमुनि और समदर्शीमुनि) : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा।

१६. आगम कालीन समाज व्यवस्था (विजयमुनि) : अमर भारती, वर्ष १६ अंक-फरवरी-मार्च।

१७. आचारांग सूत्र : मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर राजस्थान, १९८०।

१८. इकोनामिक लाइफ ऑफ नार्दन इण्डिया (लल्लन जी गोपाल), वाराणसी, १९६५

१९. उपाशकदशांग : जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट।

२०. उत्तराध्ययन चूर्णि (जिनदासगणि) : ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम, १९३३

२१. उत्तराध्ययन : जैन शास्त्र माला कार्यालय, लाहौर, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर (राजस्थान)।

२२. उत्तराध्ययन चूर्णि, टीका : जिनदासगणि, रतलाम, १९३३। शान्तिसूरि, बम्बई, १९१६।

२३. कल्पसूत्र (भद्रबाहु) : देवेन्द्रमुनि शास्त्री, श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर, १९८५

२४. कुवलयमालाकहा (उद्योतनसूरि) : सिंघी जैन ग्रंथमाला, बम्बई।

२५. कौटिल्य का अर्थशास्त्र : चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी।

२६. डॉ. प्रेससुमन जैन, कुवलयमालाकहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन, प्राकृत जैनशास्त्र एवं अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली।

२७. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति : जैनशास्त्रोद्धार समिति, राजकोट।

२८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति : जैनशास्त्रोद्धार, मुद्रणालय, हैदराबाद।

२९. जीवाभिगम : जैनशास्त्रोद्धार मुद्रणालय, हैदराबाद।

३०. जैन दिनेन्द्रचन्द्र, इकोनामिक लाइफ ऑफ ऐंशियेंट इण्डिया ऐज डिपिक्टेड इन जैन केनोनिकल लिटरेचर : प्राकृत, जैनोलॉजी एण्ड अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली (बिहार), १९८०।

३१. जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास (भाग १ से ७) : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।

३२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास : मोहनलाल मेहता, वाराणसी, १९६६-६७।

३३. जगदीशचन्द्र जैन, जैनागम साहित्य में भारतीय समाज : चौखम्बा विद्या भवन चौक, वाराणसी, १९६५।

३४. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास : डॉ. मोहन लाल मेहता, वाराणसी, १९६७।

३५. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-१ (पं. वेचरदास) : वाराणसी, १९६६

३६. जैन आगम (पं. दलसुख मालवणिया) : जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस सन् १९४७।

३७. जिनरत्नकोश (हरिदामोदर वेलणकर) : भण्डारकर ओरियेन्टल इन्स्टीट्यूट पूना, सन् १९४४।

३८. जैन आगम औपपातिक सूत्र का सांस्कृतिक अध्ययन : विजयमुनि, जिनविजय, अभिनन्दन ग्रंथ।

३९. जैन शास्त्रों में अट्ठारह श्रेणियों का नामोल्लेख : ज्ञानचन्द्र, श्रमण वर्ष २४ अंक २।

४०. जैन कल्चर : अरहन मुकेश जैन, महावीर जयंति स्मारिका, १९८१, खण्ड ५।

४१. जीतकल्प भाष्य (जिनभद्रगणि, पुण्यविजय) : अहमदाबाद, विक्रम संवत् १९९४।

४२. द इण्डस वैली सिविलाइजेशन (मा. ह्विलह) : कैम्ब्रिज, १९५३।

४३. द डांस ऑफ शिव : कुमार स्वामी।

४४. दशवैकालिक सूत्र, संपा. मधुकर मुनि, आ.प्र.स., व्यावर, १९८५

४५. दशवैकालिक चूर्णि (जिनदासगणि) : जैन श्वेताम्बर संस्था, जामनगर।

४६. दशाश्रुतस्कंध : जैनशास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर।

४७. दशवैकालिक चूर्णि, (जिनदासगणि) : रतलाम, १९३३।

४८. दशाश्रुतस्कंध चूर्णि : भावनगर, सं. २०११।

४९. निरयावलिका सूत्र : जैनशास्त्रोद्धार समिति, राजकोट।

५०. निशीथसूत्र (भाग १ से ४ भाष्य और चूर्णि सहित) : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा।

५१. नितिवाक्यामृत (सोमदेवसूरि) : महावीर जैन ग्रंथ माला, वाराणसी।

५२. निशीथभाष्य, चूर्णि, जिनदासगणि; उपाध्याय कवि अमरमुनि और मुनि कन्हैयालाल : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९५७-१९६०।

५३. निरयावलिया टीका (चन्द्रसूरि) : अहमदाबाद, १९३८।

५४. पिंडनिर्युक्ति भाष्य, टीका : मलयगिरि, सूरत, १९१८।

५५. प्रज्ञापना टीका : मलयगिरि, बम्बई, १९१८-१९

५६. प्राचीन भारतीय शासन पद्धति (अनंत सदाशिव अल्टेकर) : लीडरप्रेस इलाहाबाद, १९४८।

५७. पउमचरिय, विमलसूरि : भावनगर, १९१४।

५८. प्राचीन तीर्थमाला संग्रह भाग-१ : भावनगर, संवत् १९७८।

५९. बृहत्कल्पभाष्य, द्वारा संघदासगणि क्षमाश्रमण, मलयगिरि और क्षेमकीर्ति टीका सहित : आत्मानंद जैन सभा, भावनगर १९३३

६०. बृहत्कल्पभाष्यम् (हिन्दी अनुवाद सहित) संपा./अनुवादक मुनि दुलहराज, डैन विश्व भारती लाडनूं, प्रथम संस्करण, २००७।

६१. भगवती आराधना, आचार्य श्री शिवार्य, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९७८

६२. महाभारत, श्रीपाद सातवलेकर, भारतमुद्रणालय, बलसा', (गुज.), १९७८

६३. मनुसमृति, टीकाकार पं. श्री हरगोबिन्द शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १९७९

६४. राजप्रश्नीय टीका, अभयदेव : गुजराती अनुवाद, बेचरदास दोशी, अहमदाबाद, विक्रम सं. १९९४।

६५. वसुदेवहिंडी, संघदासगणि वाचक, : आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९३०-३१।

६६. विविधतीर्थकल्प, जिनप्रभसूरि, सिंघी जैन ज्ञानपीठ शान्तिनिकेतन, बम्बई, १९३४।

६७. व्यवहारभाष्य, टीका (मलयगिरि) : भावनगर, १९२६।

६८. व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका, (अभयदेव) : आगमोदय समिति, बम्बई १९२१; रतलाम, १९३७।

६९. विपाकसूत्र टीका, (अभयदेव) : बड़ौदा, वि. सं. १९२२।

७०. शिवराममूर्ति सी., इण्डियन पेंटिंग, दिल्ली, १९७०

७१. समन्तभद्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार : श्री मुनि संघ साहित्य प्रकाशन समिति, सागर, म.प्र. १९९२

७२. सानुवाद व्यवहारभाष्य, संपा./अनुवादक मुनि दुलहराज, जैन विश्वभारती, लाडनू, २००४

७३. सूत्रकृतांग निर्युक्ति, चूर्णि, टीका : जिनदासगणि, रतलाम, १९४१, शीलांक, आगमोदय समिति, बम्बई, १९१७।

७४. स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, (राज.)

७५. हिस्ट्री ऑफ जैन मोनासिज्म : शान्ता राम भालचन्द्रदेव, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, १९५६।

७६. हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन (वी. एस. अग्रवाल) : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् सम्मेलन भवन, पटना।

७७. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र (पी.वी. काणे) : भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना, पाँच खण्ड १९३०-५३।

७८. त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित, हेमचन्द्र : अनुवाद एस.एम. जॉन्सन, १९३०।

७९. ज्ञाताधर्मकथा (नायाधम्मकहा) : टीका, अभयदेव, आगमोदय समिति बम्बई, १९१९।

८०. ज्ञाताधर्मकथा (नायाधम्मकहा) : भगवान् महावीर की धर्मकथाओ, बेचरदास दोशी, अहमदाबाद, १९३१।

८१. ज्ञाताधर्मकथा : संपादक, एन.वी.वैद्य, पूना, १९४०।

*

Our Important Publications

1.	*Studies in Jaina Philosophy*	Dr. Nathamal Tatia	200.00
2.	*Jaina Temples of Western India*	Dr. Harihar Singh	300.00
3.	*Jaina Epistemology*	Dr. I.C. Shastri	150.00
4.	*Jaina Theory of Reality*	Dr. J.C. Sikdar	300.00
5.	*Jaina Perspective in Philosophy & Religion*	Dr. Ramji Singh	300.00
6.	*Aspects of Jainology (Complete Set : Vols. 1 to 7)*		2500.00
7.	*An Introduction to Jaina Sādhanā*	Prof. Sagarmal Jain	40.00
8.	*Pearls of Jaina Wisdom*	Dulichand Jain	120.00
9.	*Scientific contents in Prakrit Canons*	Dr. N.L. Jain	400.00
10.	*The Heritage of the Last Arhat : Mahāvīra*	Dr. C. Krause	25.00
11.	*Multi-Dimensional Application of Anekāntavāda*	Ed. Prof. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey	500.00
12.	*The World of Non-living*	Dr. N.L. Jain	400.00
13.	*Jains Today in the World*	Pierre Paul AMIEL	500.00
14.	*Jaina Religion: its Historical Journey of Evolution*	Dr. Kamla Jain	100.00
15.	जैन धर्म और तान्त्रिक साधना	प्रो. सागरमल जैन	350.00
16.	सागर जैन-विद्या भारती (पाँच खण्ड)	प्रो. सागरमल जैन	500.00
17.	गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण	प्रो. सागरमल जैन	60.00
18.	अहिंसा की प्रासंगिकता	डॉ. सागरमल जैन	100.00
19.	अष्टकप्रकरण	डॉ. अशोक कुमार सिंह	120.00
20.	दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति : एक अध्ययन	डॉ. अशोक कुमार सिंह	125.00
21.	जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन	डॉ. शिवप्रसाद	300.00
22.	अचलगच्छ का इतिहास	डॉ. शिवप्रसाद	250.00
23.	तपागच्छ का इतिहास	डॉ. शिवप्रसाद	500.00
24.	सिद्धसेन दिवाकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व	डॉ. श्री प्रकाश पाण्डेय	100.00
25.	जैन एवं बौद्ध योग : एक तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. सुधा जैन	300.00
26.	जैन एवं बौद्ध शिक्षा-दर्शन एक तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. विजय कुमार	200.00
27.	जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (सम्पूर्ण सेट सात खण्ड)		1400.00
28.	हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (सम्पूर्ण सेट चार खण्ड)		760.00
29.	जैन प्रतिमा विज्ञान	डॉ. मारुति नन्दन तिवारी	300.00
30.	वज्जालग्गं (हिन्दी अनुवाद सहित)	पं. विश्वनाथ पाठक	160.00
31.	प्राकृत हिन्दी कोश	सम्पा.- डॉ. के.आर. चन्द्र	400.00
32.	भारतीय जीवन मूल्य	प्रो. सुरेन्द्र वर्मा	75.00
33.	समाधिमरण	डॉ. रज्जन कुमार	260.00
34.	पञ्चाशक-प्रकरणम् (हिन्दी अनुवाद सहित)	अनु. डॉ दीनानाथ शर्मा	250.00
35.	जैन धर्म में अहिंसा	डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा	300.00
36.	बौद्ध प्रमाण-मीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा	डॉ. धर्मचन्द्र जैन	350.00
37.	महावीर की निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श	भगवतीप्रसाद खेतान	150.00
38.	स्थानकवासी जैन परम्परा का इतिहास	प्रो. सागरमल जैन एवं डॉ. विजय कुमार	500.00
39.	सर्वसिद्धान्तप्रवेशक	सम्पा. प्रो. सागरमल जैन	30.00
40.	जीवन का उत्कर्ष	श्री चित्रभानु	200.00

Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi - 5